तात्त्विक-चिंतन

लेखक

धर्मदिवाकर पं० सुमेरुचंद्र दिवाकर

न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी. ए., एल. एल. बी.

सिवनी (म० प्र०)

पूज्यवर, महातपस्वी

१०८ नेमिसागरजी महाराज

के

कर-कमलों में सविनय समर्पित

सुमेरुचंद्र दिवाकर

:: हार्दिक धन्यवाद ::

श्रीमान् गुरुभक्त नेमचन्द हीराचन्द्र शाह, ३६२ फरग्यूसन रोड वरली नाका, बम्बई १८, की ४००) रुपयों की आर्थिक सहायता से प्रकाशित यह रचना मुमुक्षुओं को भेंट की जाती है। दातार बन्धु का यह श्रुत-प्रेम धन्यवाद के योग्य है। (लेखक)

वैराग्य भावना नित्यम् ।
नित्यं तत्व - विचिंतनम् ॥
नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो ।
यमेषु नियमेषु च ॥

—सोमदेव सूरि ।

चल चेतन तहँ जाइये,
जहाँ न राग विरोध ।
निज स्वभाव परकासिये,
कीजे आतम बोध ॥

भूमिका

आजकल इस भरतक्षेत्र में दु ख-प्रचुर दुषमा-काल प्रवर्तमान है। इस समय यहाँ जन्म धारण करने वाले जीव प्राय: अल्प पुण्य की पूँजी युक्त रहते हैं। बुद्धिमान माना जानेवाला मनुष्य जीवन की आवश्यक्ता पूर्ति तथा विषय सुखो की तृप्ति के हेतु अपना हीरा-सा जन्म गवांता है। इसे सौभाग्य माना जाय, या दुर्भाग्य, कि आज पशु प्रवृत्तियो को प्रोत्साहनदात्री मर्यादातीत सामग्री संकलित की जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि आज का मानव अपने को अपनी अनमोल आध्यात्मिक संपत्ति (Spiritual Wealth) से विहीन अनुभव करता हुआ स्वय को भी अचेतन पदार्थों की श्रेणी में गिनने लगता है। वह जल-थल-नभ के भीतर निहित रहस्यो की खोज में दीवाना बन रहा है। इस कार्य के द्वारा आनद को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु उसकी आंतरिक स्थिति असंतोष तथा असामंजस्य प्रचुर मनोव्यथा से परिपूर्ण हो रही है। वह परिग्रह-पिशाच का दास बनकर वस्तु स्थिति को समझना ही नही चाहता है जीवन के विविध क्षेत्रों में परिग्रह देवता, या दानव, की महापूजा की ही तैयारी हो रही है। इस पिशाच को प्रसन्न करने की दुर्बुद्धि से यह आज जीव कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार का भी परित्याग कर चुका है।

पुद्गल के चक्कर में फसे हुए इस प्राणी को गुरु समझाते हे; "आयु घटै तेरी दिन रात, क्यो निश्चिन्त रह्यो तू भ्रात।" जरा स्मरण तो कर "जीवितं अम्बु विन्दुचपलं"—तेरा जीवन पानी की बिन्दु समान क्षणस्थायी है; जिस वैभव को तूने भगवान बना लिया है, वह तो बिजली की चमक तथा मेघ के समान नश्वर है, "तडिदभ्रसमा विभूतय.।" जिस जीव की मोहनिद्रा उपशम अवस्था को प्राप्त होती है, वह गुरु की वाणी को सुनकर जाग जाता है। उसे पता चलता है, कि मोह लुटेरा उसकी जीवन निधियो को लूटता जा रहा था। वह अपने ज्ञान-दीप को जलाता है। उसमे तप रूपी तेल को रखता है। और "निज" घर की खोज करता है।

इस जीव को अनेक विचित्र-बुद्धि व्यक्ति भ्रम में फसाकर कल्याण से विमुख करते हैं। वर्तमान समय में कोई २ तत्वज्ञ बनने का अहंकार धारण कर भोले जीवों को सन्मार्ग तथा पवित्र परंपरा से विचलित कर रहे हैं। सन्मार्ग के प्रति विमुखता धारण करने का परिणाम कैसा होगा, यह सहज ही समझदार सोच सकता है? रत्नत्रय धर्म को भूलकर एकान्त पक्ष का आश्रय लेने में कदापि वास्तविक शाति नही मिलेगी।

इस तात्विक-चिंतन में मुमुक्षु प्राणी के लिए अविनाशी आनंद की चर्चा आगम के आधार पर की गई है। आशा है विवेकी व्यक्ति शान्त भाव से विचारकर स्याद्वाद दृष्टि को अपनावेंगे। ज्योतिर्मय जीवन का सच्चा साधन जिनेन्द्र शासन है।

दिवाकर सदन, सिवनी, (मध्यप्रदेश)
३ जनवरी १९६०

सुमेरुचन्द्र दिवाकर

तात्त्विक चिंतन

शांति की खोज

जगत् के प्राणी अनादि काल से शाश्वतिक शांति की उपलब्धि हेतु अनवरत उद्योग करते चले आ रहे हैं, किन्तु अब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो पाई। आनन्दपुञ्ज आत्म-स्वरूप की विस्मृति के कारण यह जीव अविद्या के कुचक्र में फँसा रहता है तथा आहार, भय, मैथुन एव परिग्रह की लालसा के कारण इन्द्रिय जनित सुखाभास में उलझा करता है। इन्द्र, चक्रवर्ती आदि को भी जो विषय-जन्य सुख प्राप्त होता है, वह आकुलता को ही वृद्धिगत करता है। वह तृष्णा भाव को जगाता है। श्रेष्ठ वैभव सम्पन्न तीर्थंकर भगवान् भी विषयों के द्वारा तृप्ति को नहीं प्राप्त कर पाते। भगवान् शीतलनाथ तीर्थंकर के मुनि पदवी स्वीकार करने के पूर्व की चित्तवृत्ति को गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में भली प्रकार अंकित किया है। भगवान सोचते हैं—(१)

विषयैरेव चेत्सौख्यं तेषां पर्यन्तगोस्म्यहम्।
तत कुतो न मे तृप्तिः मिथ्या वैषयिकं सुखम् ॥ ४१ ॥

औदासीन्यं सुखं तच्च मोहे सति कुतस्ततः।
मोहारिमेव निर्मूलं विलयं प्रापये द्रुतम् ॥ ४२ ॥

"यदि विषयों में ही सुख है, तो मैं अपार सुख-सामग्री सम्पन्न हूँ; तब मुझे क्यों नहीं तृप्तता प्राप्त होती है? अतः इन्द्रियों के पोषक विषयों से उत्पन्न सुख मिथ्या है।"

"सच्चा सुख उदासीन परणति में है। मोहनीय कर्म के होते हुए वह उदासीनता जन्य आनंद कैसे प्राप्त होगा, अतः मैं शीघ्र ही मोहरूप शत्रु को नष्ट करूँगा।"

---

(१) उत्तरपुराण—गुणभद्राचार्य; अध्याय ६

पूज्यपाद स्वामी इन इन्द्रियजनित सुखों के अंतस्तत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—"ये सुख प्रारम्भ में संताप उत्पन्न करते हैं। इष्ट सामग्री की प्राप्ति होने पर अतृप्ति उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् जीव उन विषयो का ऐसा दास बन जाता है कि उनका त्याग करना कठिन हो जाता है।"

अज्ञानी की प्रवृत्ति

तत्व की बात यह है कि सुख विशुद्ध आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानवश यह मोही प्राणी बाह्य पदार्थों के आश्रय से सुख प्राप्त करने का असफल प्रयत्न करता है। इस जीव की चेष्टा उस हरिण सदृश है जो कस्तूरी को बाहरी वस्तु सोचकर उसे खोजता फिरता है। ग्रामीण लोकोक्ति है :—

मृगनाभि में सुगन्धी, सूँघे वो घास गन्धी।
दुनियाँ सभी है अन्धी, समझे नहीं इशारा॥

सुख का मूल

सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी भगवान ने कहा है कि असली तथा अविनाशी आनन्द की प्राप्ति के लिये जीव को वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का अवबोध आवश्यक है। चैतन्य पुञ्ज आत्मा का अचेतन एवं पर पदार्थों मे आनन्द को खोजना अज्ञान-भाव है। सुख तथा दुःख का सम्यक् प्रकार विश्लेषण किया जाय, तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि शरीर में आत्मबुद्धि धारण करने पर मिथ्यात्व परणति ही दु.ख का मूल है।

"मूलं संसार दुःखस्य देह एवात्मधीः।"

अतएव सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन की प्राप्ति परम आवश्यक है। देह तथा देही में भेद-विज्ञान होने पर वह सम्यक्त्व प्राप्त होता है। मुक्ति मंदिर का प्रवेशद्वार यह सम्यक्त्व है। इसके बिना ज्ञान तथा चारित्र समीचीनता को नहीं प्राप्त होते हैं। यह सम्यक्त्व विश्व की श्रेष्ठ विभूतियों से भी महान् है। पद्मपुराण में लिखा है कि भीषण वन में छोड़ी गई सती सीता ने कृतान्तवक्र सेनापति के द्वारा महाराज रामचन्द्रजी को जो सदेशा भिजवाया था,

उसमें यह कहा था—"आपने लोकापवाद के भय से मुझे इस गर्भावस्था में भीषण वन में छोड़ दिया, ऐसा कहीं उस लोकापवाद के भय से जिनेन्द्रदेव की भक्ति को मत छोड़ देना।" महासती सीतादेवी के ये वचन भी बड़े गम्भीर हैं—

" नरस्य सुलभं लोके निधि स्त्री-वाहनादिकम।

सम्यग्दर्शनरत्नं तु साम्राज्यादपि दुर्लभम् ॥" ४२—६६ पर्व ॥

"मनुष्य को निधि, स्त्री, वाहनादिक की प्राप्ति लोक में सुलभ है। सम्यग्दर्शन रूपी रत्न साम्राज्य की अपेक्षा भी दुर्लभ है।"

सम्यक्त्व की दुर्लभता

जब सम्यक्त्व की प्राप्ति साम्राज्य पदवी के लाभ से भी अधिक महत्वपूर्ण कही गई है, तब उसके धारण करने वाले बिरले ही भाग्यशाली जीव होते हैं, जिनका संसार का परिभ्रमण थोड़ा शेष रहा है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में उस महानिधि सम्यक्त्व के स्वामी "त्रि-चतुराः"—तीन, चार कहकर उसकी दुर्लभता को स्पष्ट किया है। बाह्य प्रयत्नों के होते हुए भी जब तक अंतरङ्ग करणलब्धि आदि सामग्री का सुयोग नहीं मिलता, तब तक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। आचारांगादि एकादशांगों के पारङ्गत विद्वान् मुनि होते हुए भी दर्शन मोहनीय का उदय होने से वह जीव "समझे न अनातम आतम सत्ता"—आत्मा-अनात्मा के भेद को नहीं निश्चय कर पाता है। वह शुद्धोपलब्धि का स्वामी नहीं बन पाता है। आत्मा-अनात्मा का वह बौद्धिक स्तर पर मार्मिक कथन कर सकता है, किन्तु अनुभव के आधार पर वह कथन करने में असमर्थ रहता है। वह ज्ञान चेतना के बदले कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना का ही अनुभव करता है। आज जो जिनागम उपलब्ध हैं, उनके रचयिता भूतबलि, पुष्पदन्त, गुणधर, समंतभद्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी सदृश आचार्यों की बौद्धिक सामर्थ्य पर दृष्टि डाली जाय तो कहना होगा, कि ये सब एकादशांगी मुनि के समक्ष ऐसे ही प्रतीत होंगे, जैसे चन्द्र के समक्ष ताराओं का समुदाय दिखता है। अतएव बौद्धिक विकास को भी सम्यक्त्व का निश्चायक नहीं माना जा सकता। विद्वान लेखक,

वक्ता तथा महान प्रभावशाली पुरुष होते हुए भी वह सम्यक्त्व ज्योति रहित हो सकता है। आज किसी के मुख से सम्यक्त्व का सुमधुर वर्णन सुनकर लोग यह सोचने लगते हैं, कि ऐसा वक्ता अवश्य सम्यक्त्व सम्पन्न होगा; यह विचार अपरमार्थ है। पंचाध्यायी के ये शब्द प्रत्येक मुमुक्षु सत् पुरुष को स्मरण रखना चाहिये—

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात् परम् ॥ १६६-२ ॥

मिथ्यादृष्टि जीव के एकादश अंगों का ज्ञान होते हुए भी उसके आत्मा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि उसके मिथ्यात्व प्रकृति का उदय पाया जाता है।

शुक्ललेश्या का स्वामी बनकर दिगम्बर मुनि की कठोर तपस्या करके वह द्रव्य-लिंगी सोलहवें स्वर्ग जाने वाले भाव-लिंगी सम्यक्त्वी श्रावक से भी ऊपर नवम ग्रैवेयक को प्राप्त करता है, किन्तु मिथ्यात्व के कारण उसका भव-भ्रमण नहीं छूटता है।

अन्य के सम्यक्त्व का निर्णय—

दूसरे के सम्यक्त्वी होने का निश्चय करने योग्य निर्णायक सामग्री का आजकल इस भरत क्षेत्र में अभाव है। केवली भगवान के सिवाय परमावधि, सर्वावधि ज्ञान वाले मुनि अथवा मनः पर्यय ज्ञान वाले महामुनि यह बता सकते हैं कि किस जीव के सम्यक्त्व का सद्भाव है या अभाव है। आज उन दिव्यज्ञानी मुनियों का दर्शन नहीं होता, अतएव दूसरों के सम्यक्त्व के बारे में अनुमान लगाना अपरमार्थ बात है। गृहस्थावस्था में तीर्थंकर भगवान के भी देशावधि ज्ञान होता है। परमावधि आदि ज्ञान मुनि पदवी धारण के पश्चात् होते हैं। जब गृहस्थावस्था वाले तीर्थंकर भगवान दूसरे के सम्यक्त्व का पक्का निश्चय करने में असमर्थ हैं, तो अन्य अल्पज्ञ गृहस्थ उसका निश्चय कैसे कर सकता है?

पंचाध्यायी का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञान-गोचरम् ।
गोचरं स्वावधि-स्वान्तपर्यय - ज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३७५ ॥

न गोचरं मतिज्ञान-श्रुतज्ञान - द्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयानुपलब्धितः ॥ ३७६ ॥ उत्तरार्ध

सम्यक्त्व वास्तव में बहुत सूक्ष्म है। वह केवलज्ञान का विषय है। वह परमावधि, सर्वावधि एव मनःपर्यय इन दो ज्ञानों के गोचर है। मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का वह तनिक भी विषय नहीं है। वह देशावधि ज्ञान का भी विषय नहीं है, क्योंकि उन ज्ञानों के द्वारा वह विषयरूप से नहीं ग्रहण होता है।

ऐसी वस्तु-स्थिति के होते हुए यदि कोई व्यक्ति दूसरों को सम्यक्त्वी होने का प्रमाण-पत्र बाँटता है, तो उसका सच्चे मोक्षमार्ग में शून्य से अधिक मूल्य नहीं होगा। ऐसी अनर्थ प्रवृत्ति में तत्पर व्यक्ति के, चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण मुद्राधारी हो, प्रवर्धमान मिथ्यात्व रोग का अस्तित्व मानना होगा।

महत्वपूर्ण बात

जिनवाणी के अभ्यास से ज्ञात होता है कि कोई-कोई जीव काललब्धि के समीप आ जाने पर श्रुतज्ञान के अल्प क्षयोपशमवश मंदमति होते हुए भी सम्यक्त्व की ज्योति से समलंकृत हो जाता है। अल्पज्ञानी शिवभूति मुनि दाल से जैसे छिलका जुदा है, उसी प्रकार मेरी आत्मा भी कर्मों से पृथक् है, इस तत्व का निश्चय कर तत्वज्ञान के प्रसाद से सर्वज्ञ परमात्मा हो गए थे।

मूलाराधना टीका से ज्ञात होता है कि चक्रवर्ती भरतेश्वर के भद्र, विवर्धन आदि नौ सौ तेईस पुत्रों ने निगोद से आकर मनुष्य पर्याय प्राप्त करके सकल संयम का शरण ग्रहण कर अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त कर लिया था। काल-लब्धि की सन्निकटता न होने से भरत के पुत्र मरीचिकुमार ने विश्रुत वंश में जन्म धारण करके भी गृहीत मिथ्यात्व का आश्रय ग्रहण करके कुयोनियों में परिभ्रमण किया

था। काल लब्धि निकट आने पर मरीचिकुमार के जीव ने सिंह की पर्याय में चारण मुनियुगल से धर्म की देशना प्राप्त कर सम्यक्त्व को ग्रहण किया था। भावों की अद्भुत गति है। सिंह की हिंसा प्रचुर, संस्कार-शून्य पशु पर्याय में सम्यक्त्व का लाभ हुआ तथा ऋषभदेव तीर्थंकर के पवित्र वंश में तत्वज्ञानी भरत के पुत्र होते हुए भी सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकी; इससे यह बात स्वीकार करना उचित है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप सामग्री चतुष्टय को प्राप्त किए बिना बाहरी वेष बनाने से, लम्बी-लम्बी बातें करने से या विविध प्रकार के प्रदर्शनों से सम्यक्त्व की प्राप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है।

करणलब्धि की महत्ता

लब्धिसार ग्रन्थ में लिखा है कि करण लब्धि नाम की पाँचवीं लब्धि के अंतिम क्षण में प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। कहा भी है—

पढमुवसमं स गिण्हदि पंचम-वर लद्धि चरिमम्हि ॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड की यह गाथा महत्वपूर्ण है—

चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई ॥ ६५२ ॥

चारों गतिवाला भव्य जीव, पर्याप्तक, विशुद्ध भाववाला, साकारोपयोगी, जागृत अवस्थायुक्त, शुभलेश्यावाला और करण-लब्धिवाला जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

कोई-कोई व्यक्ति यह कहते हैं कि इस मनुष्य भव में ही सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है, यह कथन करणानुयोग के प्रतिकूल है। नारकी जीव भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। दुःखों के सिन्धु स्वरूप सातवें नरक का नारकी जीव भी काललब्धि आने से सम्यक्त्वी बन सकता है।

पंचलब्धि

पंच प्रकार की लब्धियों का स्वरूप आगम में इस प्रकार

कहा गया है। "कर्ममलपटल की शक्ति प्रति समय अनन्त गुणक्रम से हीन होती हुई, जब उदय को प्राप्त होती है, तब क्षयोपशम लब्धि होती है। इस लब्धि के कारण जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने के हेतु रूप जो भाव होते हैं, वह "विशुद्धि लब्धि" है। छह द्रव्य, नौ पदार्थों के उपदेश देने वाले आचार्य आदि का सुयोग मिलना अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थों की स्मृति की प्राप्ति (देसिद-पदत्थधारण-लाहो) देशना लब्धि है। निर्मल भावों के कारण सात कर्मों की अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति तथा अनुभाग को करना "प्रायोग्य लब्धि" है। ये चार लब्धियाँ भव्य तथा अभव्य को भी सामान्य रूप से प्राप्त होती हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप भावों की उपलब्धि करणलब्धि है। यह मुख्य है। (लब्धिसार गाथा २-६) इसके अभाव में सब सामग्री के होते हुए भी सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है।"

तत्व-विचार सम्यक्त्व की प्राप्ति में सहायक है। किन्तु यह नियमतः उसका उत्पादक नहीं कहा गया है। पं० टोडरमल जी ने लिखा है "यह तत्वविचारवाला जीव सम्यक्त्व का अधिकारी है परन्तु याके सम्यक्त्व होय ही होय ऐसा नियम नाहीं।" भावों का अद्भुत खेल है। उनकी सम्हाल रखना मुमुक्षु का कर्तव्य ह। मोक्षमार्ग प्रकाश में लिखा है "कोई जीव तो ग्यारवें गुणस्थान यथाख्यात चरित्र पाय बहुरि मिथ्यात्वी होय किंचित् ऊन अर्धपुद्गल परिवर्तन काल पर्यन्त संसार में रुलै। अर कोई नित्य-निगोद में सों निकसि मनुष्य होय मिथ्यात्व छूटै, पाछैं अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान पावे। ऐसे जानि अपने परिणाम बिगरने का भय रखना, अर तिनके सुधारने का उपाय करना" (अध्याय ७)।

स्वानुभूति की मुख्यता

सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर जीव स्वानुभूति का अवर्णनीय रस पान करता है। इस स्वानुभूति सहित प्रशम, संवेग, अनुकंपा तथा आस्तिक्य गुण यथार्थ हैं। श्रद्धान आदि भी समीचीन हैं। स्वानुभूति के अभाव में उक्त गुण न होकर गुणाभास होते हैं। पंचाध्यायी में कहा है:—

स्वानुभूति-सनाथाश्चेत् संति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥४१५॥

स्वानुभूति संयुक्त होने पर तत्वश्रद्धान, तत्वरुचि, प्रतीति आदि सम्यक्त्व के गुण हैं। स्वानुभूति के अभाव में वे श्रद्धान आदि गुण न होकर गुणाभास हैं।

मति-श्रुत में प्रत्यक्षपना

इस प्रकरण में यह बात भी ज्ञातव्य है कि स्वानुभूति के क्षण में मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं। कहा भी है—

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङमोहोपशमादितः ॥४६२॥

यह बात यथार्थ है कि अन्य पदार्थ का संवेदन करते समय मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये दोनों परोक्ष रहते हैं, किन्तु दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशमादि होने पर स्वानुभूति के क्षण में वे ज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं।

आत्म-साक्षात्कार करते समय भावमन अमूर्तस्वरूप हो जाता है। द्रव्य-मन अचेतन होते हुए भी स्वार्थग्रहण काल में भाव मन का सहायक होता है। पूर्वार्ध पंचाध्यायी में कहा है—

द्रव्यमनो हृत्कमले घनांगुलासंख्यभागमात्रं यत्।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥७१३॥

हृदयकमल में घनांगुल के असंख्यातभाग प्रमाण द्रव्यमन है। वह यद्यपि जड़ है फिर भी स्वार्थ ग्रहणकाल में भावमन की सहायता करता है।

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्ट स्वयं हि सदमूर्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥७१८॥

कथन का अभिप्राय यह है, कि भाव-मन जब ज्ञान-विशिष्ट रूप होता है; तब वह अमूर्त स्वरूप हो जाता है। उस अमूर्त मन रूप ज्ञान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अतः वह आत्मदर्शन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यों न होगा?

मोक्ष प्राप्ति के लिये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आवश्यक हैं। अवधि तथा मनः पर्यय ज्ञान के बिना मोक्ष होता है किन्तु मतिश्रुति के बिना मोक्ष नहीं होता। आत्मसिद्धि के लिये मति-श्रुतज्ञान निश्चित कारण हैं। पंचाध्यायी में लिखा है—

अपि चात्मसंसिध्यै नियतं हेतू मतिश्रुती ज्ञाने।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यात्ऋते मतिद्वैतम्॥ ७१९॥

आत्मा की सम्यक् प्रकार से सिद्धि के लिए मतिज्ञान, श्रुतज्ञान नियत कारण हैं। अवधि, मनः पर्ययज्ञान के बिना मोक्ष होता है, किन्तु मतिश्रुत के बिना नहीं होता है।

स्वानुभूति का स्पष्टीकरण

आत्म-साक्षात्कार अथवा स्वात्मानुभूति का स्वरूप समझाने के लिए महिषानुभूति का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति महिष (भैंसा) का ध्यान करने में निमग्न है। वह यह समझता है "अयं महिषः, अहं तस्यापासकः" यह महिष है और मैं उसका आराधक हूँ; इस प्रकार उपास्य, उपासक का विकल्प नय-पक्ष का अवलम्बन करता है। इसके पश्चात दैववश शीघ्र ही अथवा विलम्ब से अभेदभाव को प्राप्त कर "स्वयं हि महिषात्मा" स्वयं को महिषात्म रूप से अनुभव करता है। यह महिषानुभूति है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति स्वात्मध्यान करने में आरूढ़ है और यह विकल्प धारण करता है "अयम् आत्मा, अहं अस्य अनुभविता" यह मेरी आत्मा है और मैं उसका अनुभव करने वाला हूँ। इसके पश्चात् वह दैववश शीघ्र ही या विलम्बपूर्वक "स्वयं आत्मा इत्यनुभवनात्" मैं स्वयं आत्मा हूँ, इस प्रकार का अनुभव करने पर आत्मानुभूति की अवस्था को प्राप्त करता है।[1]

---

१ दृष्टान्तोपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः।
महिषोयमहं तस्योपासक इति नयावलवी स्यात्॥ ६४९॥

चिरमचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा।
महिषस्यैकस्य यथा भवनात् महिपानुभूतिमात्रं स्यात्॥ ६५०॥

स्वानुभूति की निर्विकल्पता

इस आत्मानुभूति को निर्विकल्प कहा गया है, अतः उसमें निश्चय, व्यवहार नयों का विकल्प दूर हो जाता है। उस अनुभव के क्षण में पूर्णरूपसे आत्म स्वरूपमें निमग्नता होती है। इस प्रकार की अवस्था की उपलब्धि दर्शन-मोहनीय के उपशम क्षय या क्षयोपशम काल में होती है। दर्शन मोहनीय कर्म का उदय होते हुए अङ्गो के ज्ञाता को भी यह अनुभव की दशा नहीं प्राप्त होता है तथा दर्शन मोह के उपशमादि होने पर मनुष्य, देव, पशु तथा नारकी जीव तक उस सम्यक्त्व रूप अनुभव की स्थिति को प्राप्त करता है। उस अनुभव के काल में मनुष्यादि पर्याय की अनुभूति अस्तंगत हो जाती है। पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि नरदेह को धारण करने वाला जीव अज्ञानावस्था में स्वयं को मनुष्य मानता है किन्तु वास्तव में देखा जाय, तो उसका शरीर मनुष्याकृति है; आत्मा मनुष्यादि विकल्पों से विमुक्त है। वह अनंतज्ञानी, अनंतशक्तियुक्त, अविनाशी तथा स्वसंवेद्य है। कहा भी है—

नरदेहस्थमात्मानं, अविद्वान् मन्यते नरम्।
अनंतानंत-धी-शक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥ समाधिशतक॥

मनुष्यादि पर्यायों को धारण करते हुए भी अपने को नर, नारकादिपर्याय-विमुक्त चैतन्यपुञ्ज आत्मा का अनुभव करना यथार्थ में सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शन है, जिसके समान तीनों लोकों में तथा तीनों कालों में अन्य नहीं है। यह तत्वज्ञानी विभाव का त्याग कर स्वभावावस्था अर्थात् सिद्ध पदवी को प्राप्त करता है। गोरस में जैसे नवनीत प्रधान है, उसी प्रकार मुमुक्षु के लिए यही तत्व परम अमृत है।

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोपि किल यावत्।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभविताहमस्य नयपक्ष.॥ ६५१॥
चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात्।
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत्॥ ६५२॥
(पंचाध्यायी पूर्वार्ध)

मिथ्या धारणा

विषयासक्त मोही मानव अविद्या की अवस्था में कभी-कभी स्वयं को सम्यक्त्वी कहता हुआ स्व तथा पर की प्रतारणा में लगता है। ऐसे दम्भी जीव का वास्तविक रहस्य जिनवाणी के अभ्यास से ज्ञानी पुरुष सहज ही जान सकते हैं। नभोमंडल में सूर्य के दर्शन होने के पूर्व से ही प्राची दिशा में अपूर्व तेज दिखाई पड़ता है और सर्वत्र अन्धकार दूर होता है; इसी प्रकार सम्यक्त्व सूर्य के उदयवाली आत्मा की अनेक चेष्टाओ के द्वारा स्थूल रूप से विचारक वर्ग यह ज्ञान कर सकता है कि किस व्यक्ति के पास सम्यक्त्वरूपी चिंतामणि रत्न है। आज के विलासिता-प्रचुर युग में नकली पदार्थो का प्रचुर मात्रा में दर्शन होता है, इसी प्रकार कृत्रिम सम्यक्त्व तथा उसके स्वामी सम्यक्त्वियों की बहुत चर्चा चला करती है। चैतन्य ज्योति का प्रत्यक्ष दर्शन करने की क्षमता न होते हुए भी हरएक व्यक्ति जीवित तथा मृत व्यक्ति के भेद को जानता है, क्योंकि दोनों की चेष्टाओ में भिन्नता रहती है; इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान जिनेन्द्रदेव ने सम्यक्त्वी की पहिचान के कुछ स्थूल चिन्ह बताए हैं।

आत्म-ज्योति के स्वामी सम्यक्त्वी के हृदय में वैराग्य-भाव परिपूर्ण रहता है। इसी कारण वह जल से भिन्न कमल सदृश मनोवृत्ति को प्राप्त करता है। षट्खंड के अधिपति होते हुए भी चक्रवर्ती भरत वास्तव में अपनी आत्मा को चैतन्य-ज्योतिका प्रभु अनुभव करते थे। तत्वज्ञानी आत्मा की विषयों के प्रति आसक्ति नहीं रहती है। वह रागी-द्वेषी देवों, उनके आराधक कुगुरुओं एवं उनकी हिंसामयी वाणी से पूर्णतया विमुख रहता है। उसकी देव, गुरु, शास्त्र में प्रगाढ़ श्रद्धा रहती है। वह भय विमुक्त रहता है। वह द्वादशांग जिनवाणी तथा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग रूप परमागम को ही प्रमाण मानता है। भगवती-आराधना में लिखा है—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो विहु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो॥

जो व्यक्ति सूत्र कथित एक भी पद या अक्षर को नहीं पसन्द करता है तथा उसके सिवाय शेष आगम को मानता है, उसे

मिथ्यात्वी मानना चाहिये।

जिनवाणी की श्रद्धा

वह सम्यक्त्वी मदों का त्यागकर मार्दव मूर्ति बनकर अपनी अल्पज्ञता को दृष्टिपथ में रखते हुए जिनेन्द्रवाणी के प्रति अविचलित श्रद्धा रखता है। सूक्ष्मादि पदार्थों के कथन को देखकर वह तत्वज्ञ विचारता है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

सर्वज्ञ जिनेन्द्र द्वारा कथित-तत्व सूक्ष्म है। उसका युक्तिवाद से खंडन नहीं होता है, अतः आज्ञासिद्ध रूप से वह मान्य है, क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं हैं। उनके मिथ्या प्रतिपादन के हेतु मोह तथा अज्ञान का क्षय हो चुका है। वह समस्त वीतराग वाणी को ज्ञान-गङ्गा मानकर उसके द्वारा अपने अंतःकरण को निर्मल तथा विशुद्ध बनाता है। सम्पूर्ण द्वादशांगवाणी का रसपान करने वाला जीव मुक्ति-श्री का स्वामी बनता है। जिनवाणी की भक्ति करने वाला जीव वास्तव में जिनेन्द्रदेव की भक्ति करता है। आशाधर जी ने कहा है—

"न किंचिदंतरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः।"

भगवान सर्वज्ञदेव ने श्रुत तथा भगवान में कोई भी भेद नहीं बताया है।

जिनवाणी की पूजा का यह पद्य कितना मधुर तथा मार्मिक है—

जिणिंदमुहाओ-विणिग्गयतार गणिंद-विगुंफिय-गंथपयार।
तिलोयहिमंडण धम्महखाणि सया पणमामि जिणिंदहवाणि॥

मैं सर्वदा जिनेन्द्र भगवान की वाणी को प्रणाम करता हूँ, जिसकी उत्पत्ति जिनेन्द्रदेव के मुख से हुई है, चार ज्ञान के स्वामी गणधरदेव ने जिसकी ग्रंथरूप में रचना की है, जो तीन लोक के भूषण रूप हैं तथा जो धर्म की खानि समान है।

निजधर्म की कहानी

अमृत के सिन्धु की प्रत्येक बिन्दु में जिस प्रकार माधुर्यादि-गुण पाए जाते हैं; लवण के प्रत्येक कण में क्षार गुण पाया जाता है, उसी प्रकार जिनवाणी का कोई भी अंग या अंश क्यों न हो, वह आत्मा के लिये विशुद्धता का उत्पादक है। भगवती भारती की महिमा को हृदयंगम करने के लिए बुद्धि में विशुद्धता तथा चित्त की पवित्रता आवश्यक है। भव्य जीव के लिए चारों ही अनुयोग तथा द्वादशांग वाणी अमृत तुल्य हैं। जिनेन्द्रवाणी को कवि दौलतराम जी ने 'निज-धर्म की कहानी" कहा है। उसमें आत्मिक स्वतन्त्रता का सुमधुर संदेश है। भावों को विशुद्ध करने की विपुल सामग्री है। जैसे द्रव्यानुयोग शास्त्र के रसपान से आत्मा बलवान तथा विशुद्ध बनती है, उसी प्रकार अन्य शास्त्रों के अभ्यास, मनन तथा चिन्तन से आत्म कल्याण होता है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सम्पूर्ण तीर्थंकरों को समान रूप से अपनी आराधना का आश्रय मानता है, उसी प्रकार वह समस्त जिनागम को भी पूजनीय मानता है। जिनागम में भेदभाव को उत्पन्न करके किसी अंश को पूज्य तथा ग्राह्य मानना तथा अन्य अंश को अनावश्यक तथा तुच्छ मानना सम्यक्त्व शैल के शिखर पर वज्रपात करने के सदृश है।

भ्रान्त दृष्टि

आजकल अध्यात्म-चर्चा के अधिक अनुरागी कोई-कोई भाई प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रों के अभ्यास को सारशून्य सोचा करते हैं। वे छोटे-बड़े सबके लिये समय साररूप रसायन-पाक-सेवन द्वारा शक्ति सञ्चय का विज्ञापन करते हैं। अध्यात्म-शास्त्र का मोक्षमार्ग में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, इसे सभी स्वीकार करेंगे, किन्तु अन्य आगम को निरुपयोगी सोचना तथा कथन करना ठीक नहीं है। हानिप्रद भी है।

महत्वपूर्ण आगम

महापुराण, यशस्तिलक, जीवकचिंतामणि आदि प्रथमानु-योग का अभ्यास बहुतों को विशुद्धता का निमित्त बनता है। समंतभद्र स्वामी का देवागमस्तोत्र बड़े-बड़े गृहीत मिथ्यात्वियों के हृदय में

स्याद्वाद शासन की महिमा स्थापित करता चला आया है। दर्शनशास्त्र का मर्मज्ञ विद्वान् अष्टसहस्री ग्रन्थ का रसपान करता हुआ विश्व के विज्ञवर्ग को कहता है—

श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्र-संख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमय-परसमय-सद्भावः॥

हजारों शास्त्रों के सुनने से क्या है, एक अष्टसहस्रीग्रन्थ का सुनना मात्र पर्याप्त है, जिसके द्वारा स्याद्वाद शासन तथा एकान्तवाद का स्वरूप ज्ञात होता है।

सहृदय समीक्षक कालिदास के प्रसिद्ध काव्य मेघदूत से भी अधिक माधुर्य तथा सौन्दर्यपूर्ण भगवज्जिनसेन रचित 'पार्श्वाभ्युदय-काव्य को स्वीकार करता है, जिसमें मेघदूत की समस्यापूर्ति करते हुए भगवान पारसनाथ प्रभु का सुललित एवं दिव्य जीवन निबद्ध किया गया है। जिनकी बौद्धिक शक्ति दुर्बल नहीं है, उनके लिए करणानुयोग शास्त्र अपूर्व आनन्द प्रदान करते हुए प्रगाढ़ श्रद्धा को उत्पन्न करते हैं। चरणानुयोग शास्त्र का सुव्यवस्थित तथा मार्मिक निरूपण अहिंसा की साधना के लिये प्राण स्वरूप है। अतएव जिनवाणी को अनन्त उज्वल रत्नों का रत्नाकर अनुभव करने वाला मुमुक्षु अपने मन को निर्मल बनाने के लिये अपनी शक्ति तथा रुचि के अनुसार स्वाध्याय करता है। करणानुयोग के अन्तर्गत तिलोयपण्णत्ति के अध्ययन का जो फल ग्रन्थकार ने कहा है, वह विशेषता अन्य आगम के विषय में भी चरितार्थ होती है। "अज्ञान का विनाश, ज्ञानरूपी सूर्य की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिकों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली विविध प्रकार की पूजा और प्रत्येक क्षण में असंख्यात गुण श्रेणी रूप से होने वाली कर्मों की निर्जरा यह शास्त्र अध्ययन का प्रत्यक्ष हेतु है।*

* अण्णाणस्स विणासं णाण-दिवायरस्स उप्पत्ती ॥ ३६ ॥
देवमणुस्सादीहिं संततमब्भच्चणप्पयाराणि ।
पडिसमयमसंखेज्जगुणसेढिकम्मणिज्जरणं ॥ ३७-१ ॥ तिलोयपण्णत्ति ॥

श्रुतकेवली की दृष्टि

अध्यात्मविद्या के अभ्यासार्थ परमात्मप्रकाश, इष्टोपदेश, समाधिशतक सदृश शास्त्रों का भी समयसार के साथ मनन तथा परिशीलन हितकारी है। जिन गौतम गणधर के चरणों की कुन्दकुन्द सदृश महामुनि सदा पूजा किया करते थे, उनने द्वादशांग वाणी की ग्रन्थतः रचना करके आचारांग सूत्र को प्रथम अङ्ग रूप में रखा। श्रावकाचार का कथन करनेवाले उपासकाध्ययनांग को सप्तम स्थान दिया। द्वादश दृष्टिवादांग के भेद पूर्वगत के अंतर्गत अध्यात्म तत्व का मुख्यता से कथन करने वाले आत्मप्रवाद को रखा। अनुयोग चतुष्टय की व्यवस्था में पुराणपुरुषों के सच्चे जीवन चरित्रादि का आख्यान करने वाले प्रथमानुयोग को प्रथम स्थान पर रखा; उसके पश्चात् करणानुयोग, चरणानुयोग एवं अन्त में द्रव्यानुयोग को रखा, जिसमें आत्मतत्व का मुख्यता से कथन किया गया है। इससे मुमुक्षु मानव को यह स्वीकार करना होगा, कि महाज्ञानी महर्षि गणधरदेव की दृष्टि अध्यात्मशास्त्र के सर्वप्रथम अभ्यास की ओर नहीं थी। शास्त्र की विविध दृष्टियों में प्रवीण पुरुष अध्यात्मशास्त्र के द्वारा अकथनीय लाभ प्राप्त करता है। नयवाद की प्रक्रिया को ठीक रूप से न जानने वाला अध्यात्मशास्त्र को स्वार्थपोषण के हेतु शस्त्र बना लिया करता है। स्याद्वाद रूपी भेषज के अभाव में एकान्तवाद रूपी विषधर अध्यात्मवादी को डसे बिना नहीं रहता है।

परम-आध्यात्मिक महाकवि पं० बनारसीदासजी ने 'अर्ध-कथानक' नामक पद्यमय आत्मचरित्र में बताया है, कि अध्यात्मवाद के अतिरेकवश उनकी बुद्धि सन्तुलन विरहित बन सत्पुरुष के सामान्य सदाचार को भी छोड़ चुकी थी। समयसार के अद्भुत अभ्यास के कारण उत्पन्न हुई अपनी अवस्था का उनने इस प्रकार निरूपण किया है—

जिन प्रतिमा निंदहिं मनमांहि, मुखसों कहहि जो कहनी नाहिं।
करहिं वरत गुरु सनमुख जाइ, फिर भाकहिं अपने घर आइ।
खाहिं रात दिन पसु की भाँति, रहे एकंत मृषामद भाँति।

पंडित रूपचन्द जी के सत्संग से बनारसीदासजी ने गोम्मटसार शास्त्र का भी गम्भीर अभ्यास किया, इससे उनके नेत्रों का एकान्तवाद जनित तैमारिक रोग दूर हो गया और वे कविवर जिनेन्द्रदेव के परमभक्त बन गए। भगवान की पूजा के लिए प्रबल प्रेरणाप्रद उनकी यह कविता कितनी मार्मिक है—

देवलोक ताके घर आँगन, राज रिद्धि सेवें तसु पाय।
ताके तन सौभाग्य आदि गुन, केलि निवास करें नित आय॥
सो नर तुरत तिरै भवसागर, निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य-भाव विधि सहित बनारसि, जो जिनवर पूजै मन लाय॥

प्रथमानुयोग की उपयोगिता

गणधर परमदेव की दृष्टि में सामान्य श्रेणी के अव्युत्पन्न व्यक्ति अथवा मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के लिए प्रथमानुयोग का अभ्यास आरम्भ में आवश्यक है। प्रथमानुयोग का व्युत्पत्यर्थ जीवकाण्ड गोम्मटसार की संस्कृत टीका में इस प्रकार दिया गया है—

"प्रथमं ।मिथ्यादृष्टि-मव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोनुयोगोधिकारः प्रथमानुयोग."। (पृष्ठ ७७२)

"प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि, अव्रती अथवा अव्युत्पन्न (विशेष ज्ञान रहित) व्यक्ति का आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ जो अनुयोग अर्थात् अधिकार है, वह प्रथमानुयोग है।"

उसके अभ्यास से दुर्बल अन्तःकरण को अपार बल एवं प्रेरणा प्राप्त होती है। राष्ट्र के जीवन निर्माण में उसके सत्पुरुषों का इतिहास जिस प्रकार उत्साह को जगाता हुआ नवचेतना प्रदान करता है, उसी प्रकार तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव आदि महापुरुषों की जीवनगाथा के अभ्यास से शीघ्र ही मन की मलिनता दूर होती है। हृदय का सन्ताप नष्ट होता है। भावों में संक्लेश वृत्ति के स्थान में विशुद्ध परणति का आविर्भाव होता है। उससे यह तत्व प्रकाश में आता है कि महान पतित परिणाम तथा अवस्था वाला जीव किस प्रकार धर्म की शरण ग्रहण कर क्रमशः उन्नति करता हुआ श्रेष्ठ

अवस्था को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ सुभग नाम के ग्वाले का जीवन पंच परमेष्ठी के नाम-स्मरण के लिए महान प्रेरणादायी बन जाता है। प्रथमानुयोग में बताया है कि सुभग नाम के ग्वाले ने भयंकर शीत ऋतु में देखा कि एक दिगम्बर मुनि रात्रि भर जङ्गल में रहे आए। उनकी शीत परीषहजय को देखकर उसका मन उन मुनि का बारम्बार स्मरण करता रहा। प्रभात में सूर्योदय के समय 'णमो अरहंताणं' शब्द उच्चारण कर वे मुनिराज चारणऋद्धि के प्रसाद से आकाश में गमन करते हुए अन्यत्र चले गए। उन चारण ऋद्धिधारी ऋषिराज के जीवन से इस गोपालक को बड़ी प्रेरणा मिली। इसने सदा णमोकार का स्मरण अपना कर्तव्य बना लिया। मृत्यु के पश्चात् वह सुदर्शन सेठ हुआ और रत्नत्रय की आराधना के फलस्वरूप वह मोक्ष पदवी का स्वामी बन गया। आशाधरजी ने लिखा है—

> स णमो अरहंताण-मित्युच्चारण-तत्परः।
> गोपः सुदर्शनीभूय सुभगाह्वः शिवं गतः ॥ ७७-८ सा. ध. ॥

"णमो अरहंताणं" इस मन्त्र के उच्चारण में तत्पर सुभग नाम का ग्वाला सुदर्शन होकर मोक्ष पहुँचा।"

जिन महावीर भगवान का आजकल पुण्यतीर्थ प्रवर्तमान है, उनकी कथा कितनी प्रेरणाप्रद है। पुरुरवा भील की पर्याय में वह जीव सागरसेन मुनिराज के वध में उद्यत था, किन्तु उस भिल्लराज की स्त्री कालिका ने कहा—"वनदेवाश्चरंतीमे मावधी"—ये वनदेवता विचरण कर रहे हैं। इनका घात करना अयोग्य है। अतः मुनिवध का विचार छोड़कर पुरुरवा उन मुनीश्वर के समीप पहुँचा तथा "मध्वादित्रितय-त्यागलक्षणं व्रतमासदत्" मधु, मांस तथा मद्य इन तीन पदार्थों के सेवन का त्याग रूप व्रत ग्रहण किया तथा व्रताराधना के फल स्वरूप वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। इसके पश्चात् अपने परिणामों के अनुसार परिभ्रमण करता हुआ वही जीव महावीर तीर्थंकर हुआ।

मृगसेन धीवर की कथा तो अद्भुत अभ्युदय की कहानी है। सदा जीव हत्या में संलग्न मृगसेन ने मुनिराज से कहा था—"प्रथमं जालगं मीनं मुने! मुंचामि सर्वदा"—हे साधु बाबा! मैं अपने

जाल में फँसी हुई पहली मछली को मारने का त्याग करता हूँ। इस प्रतिज्ञा के पश्चात् वह उज्जैनी की सिप्रा नदी में मछली पकड़ने पहुँचा। जाल में एक बड़ा मत्स्य फँसा। प्रतिज्ञानुसार वही मत्स्य चार बार जाल में आया, किन्तु मृगसेन ने उसे छोड़ता गया। रात्रि हो जाने से वह खाली हाथ घर लौटा। रात्रि के समय एक सर्प ने उसे काट दिया। व्रतयुक्त मृत्यु के प्रसाद से वह एक सेठ के घर में पुत्र हुआ। उसका नाम सोमदत्त था। उसने राजश्रेष्ठि का पद प्राप्त किया था। सुकेतु आचार्य के पास से मुनि दीक्षा लेकर सोमदत्त सर्वार्थसिद्धि पहुँचा, जहाँ से दूसरे भव में नियमतः मोक्ष प्राप्त होता है। बृहत्कथाकोश में उक्त कथा का इन शब्दों में उपसंहार किया गया है—

एकमीनदयां भक्त्या चतुर्वार-समुद्भवाम्।
चकार मृगसेनाख्यो धीवरो मृदुमानसः॥
सोमदत्तभवे प्राप्य स्वदयां स चतुर्विधाम्।
नराधिपत्यमासाद्य देवः सर्वार्थसिद्धिजः॥
(१०९-११० पृष्ठ १६९)

जनसाधारण की हितकारी सामग्री

इस प्रकार प्रथमानुयोग में जीवन को विशुद्धता प्रदान करने वाली विपुल सामग्री है। इस अनुयोग की विशेषता यह है, कि इससे बालक, स्त्री, ग्रामीण आदि जनसाधारण का अकथनीय कल्याण होता है। संकट के समय धैर्य धारणकर धर्मपालन में तत्पर आत्माओं का वर्णन पढ़कर दुःखी हृदय को सान्त्वना प्राप्त होती है। उस विपत्ति की निशा में सत्पुरुषों की जीवन वार्ता चन्द्रिका के समान प्रकाश तथा शान्ति प्रदान करती है। महापुराण में लिखा है कि नरकायु का बंध होने पर व्यथित-मनवाले श्रेणिक महाराज ने गौतम स्वामीसे पुण्यकथा निरूपणार्थ प्रार्थना की थी। उनने कहा थाः—

तत्प्रसीद विभो वक्तुमामूलात्पावनां कथाम्।
निष्क्रियो दुष्कृतस्यास्तु मम पुण्यकथा-श्रुतिः॥ २५—२॥

अतएव, भगवन्! कृपाकर प्रारम्भ से शलाका पुरुषों की पवित्र कथा कहिए। मेरे दुष्टकार्यों का निवारण पुण्यकथा-श्रवण द्वारा सम्पन्न होगा।

विपत्ति की बेला में तत्वज्ञान का शुष्क उपदेश मन पर उतना असर नहीं करता है, जितना उन महापुरुषों का आख्यान, जिनने हँसते-हँसते विपत्ति के सागर को तिरा है। तत्वज्ञानी उपदेश देता है कि शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। यह कथन स्यालनी द्वारा शरीर के भक्षण किए जाने वाले आत्मध्यान में निमग्न साधुराज सुकुमाल स्वामी के चरित्रचित्रण द्वारा जितना सुस्पष्ट होता है और आत्मा को बल प्रदान करता है, उतना अन्य तत्वज्ञान के प्ररूपण द्वारा नहीं होता है। इसी कारण स्वामी समन्तभद्र ने प्रथमानुयोग को बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण कहा है तथा उसे समाधि का भण्डार बताया है।

कोई-कोई यह सोचते हैं कि जैसे आजकल कल्पित कथाएँ छपती हैं, इसी प्रकार की कथाओं की कल्पना शास्त्रकारों ने की हैं। इस भ्रम का निवारण करते हुए समंतभद्र स्वामी कहते हैं—"प्रथमानुयोग में अर्थ का आख्यान है, परमार्थ बातों का कथन है। वह सच्चा इतिहास है, जिसके प्रकाश में मुमुक्षु निर्वाणपुरी के लिये निर्भय हो प्रस्थान करता है। जन-साधारण के हितार्थ कथा-साहित्य का प्रचार हितकारी है।"

आत्मा की चर्चा का स्थान

परमात्मप्रकाश की संस्कृत टीका में लिखा है, कि श्रेणिक महाराज ने भगवान से साठ हजार प्रश्न पूछे थे। उनमें अन्तिम प्रश्न आत्मा सम्बन्धी था। टीकाकार ने लिखा है—"सर्वागम-प्रश्नानंतरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छति"—सम्पूर्ण आगम सम्बन्धी प्रश्नों के पश्चात् सर्व प्रकार से उपादेय शुद्ध आत्मा के विषय में प्रश्न करते हैं। इस कथन से यह बात प्रतीत होती है कि शुद्धात्मा की चर्चा करना बालक्रीड़ा की वस्तु नहीं है।

जीवन का प्रत्येक क्षण अनमोल है। अतएव हमारा कर्तव्य है कि भ्रमजाल में न फंसें, अहंकार के गर्त में न गिरें और अपना आत्म कल्याण करें। स्वयं चैतन्यपुञ्ज ज्योतिर्मय आत्मा होते हुए भी मोह-मद्य के पान से विवेक भ्रष्ट जीव आत्मदेव की आराधना को आनन्द तथा शान्ति का निकेतन न विचारकर उससे विमुख होता है। विषय-भोगों की अनन्तकाल से कुसङ्गति के कारण वे इस जीव को

अत्यन्त प्रिय लगते हैं। विषयरूप विषपान को प्रेमपूर्वक करता हुआ यह अज्ञ जीव अमरजीवन की आकांक्षा करता है। स्वेच्छापूर्वक भोगों की दासता करते हुए आध्यात्मिक साम्राज्य का अधिपति बनने का स्वप्न देखा करता है। स्वप्न-साम्राज्य का स्वामित्व तथा वास्तव में चक्रवर्तित्व को पाना समान नहीं है। कल्पना मात्र से कार्य पूर्ण नहीं होता।

प्रमादी न बनो

कोई व्यक्ति परम पावन प्रदेश सम्मेदाचल की तलहटी में पहुँचकर पर्वत पर स्थिति अनेक टोकों का चर्म चक्षुओं द्वारा दर्शन करता है। इतने मात्र से सन्तुष्ट होने वाला तीर्थयात्री यदि कल्पना के द्वारा पारसनाथ भगवान के निर्वाण से पुनीत सुवर्णभद्रकूट पर पहुँचकर दर्शन कर ले, तो उस अकर्मण्य को वह आनन्द, वह शांति नहीं मिलेगी, जो प्रयत्नकर कष्ट सहते हुए पुरुषार्थी व्यक्तियों को उस टोंक पर प्राप्त होती है। मधुवन में बैठे हुए प्रमादी व्यक्ति को जैसे शैलराज की वन्दना से प्राप्त आत्म-निर्मलता की प्राप्ति नहीं होती, इसी प्रकार आध्यात्मिक साहित्य के कुछ शब्दों को उच्चारण करने वाले प्रमादशील तथा विषय-लोलुपी व्यक्ति को आत्मोपलब्धि जनित आनन्द की उपलब्धि नहीं होती।

जिस प्रकार महानगरी में जाने वाला चतुर यात्री एक विज्ञ मार्गदर्शक की सहायता प्राप्त कर सानन्द वहाँ के सौन्दर्य-स्थलों को देखता है तथा हर्षित होता है, उसी प्रकार मुक्तिपुरी के समीप जाकर आत्मा के वैभव केन्द्र के दर्शनार्थ हमें परमज्ञानी गणधर भगवान की देशना तथा पथ-प्रदर्शन के अनुसार कार्य करना चाहिये। स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करने वाले का मनोरथ सफल नहीं होता।

सद्गुरुओं ने बालवत् असत प्रवृत्ति करने वाले संसारी जीव के हितार्थ बालवैद्य का कार्य किया है। उनके अनुशासन में चलने वाला जीव शीघ्र ही अपना कल्याण करता है, किन्तु अपने को ही सर्वज्ञ पुत्र नहीं किन्तु साक्षात् सर्वज्ञ ही समझनेवाला तथा उच्छृङ्खल प्रवृत्ति वाला व्यक्ति कार्ययोग्य मङ्गलवेला को प्रमाद में खोकर नरकादि

पर्यायों में गिरकर चिरकाल पर्यन्त दुःखी रहता है। अतएव हमें एकान्त पक्ष का आग्रह छोड़कर भक्ति, प्रेम तथा प्रतीति पूर्वक समस्त जिनवाणी को सुधासम समझ उसका रस पान करना चाहिए।

आत्मा से प्रश्न ?

हमें आत्मनिरीक्षण करते हुए अपनी आत्मा से यह प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए कि चौरासी लाख योनियों में अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्तकर तूने परभव के लिए क्या कमाई की ? प्रश्न यह है, जिसका ठीक-ठीक उत्तर हमें, दूसरों को नहीं, स्वयं को देना है।

काय पाय कर तप नहिं कीना, आगम पढ़ नहिं मिटी कषाय।
धन को जोड़ दान नहिं दीना, कौन काम कीना तें आय ?

अरे चेतन ! बता तो सही, तूने सुरेन्द्रपूज्य अपने जीवन में क्या कमाई की ? यह ब्रह्मघाती, आत्मा को ठगने में सुचतुर तथा जड़ की दासता करने वाला मानव कहता है शरीर-धारण करने का अर्थ है उसे व्यर्थ की तपस्या के अभिशाप से विमुक्त रखना और मजा लूटना। तपस्या में कुछ नहीं है। जो-जो तपस्वी होते हैं, वे वे आत्मज्ञान शून्य रहते हैं। तपस्वी का दर्शन अमंगल है। उसकी प्रशंसा से बड़ा पाप नहीं। उसकी निन्दा ही कल्याण-धाम है। अध्यात्म-शास्त्र को पास में रखने मात्र से पाप हजम हो जाते हैं। कहते हैं अन्य सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि तुम मनमाना काम करो। एकबार तोबा भर करलो, यह कहलो कि मैंने यह काम अच्छा नहीं किया, तो तुम्हारे गुनाह माफ हो जायंगे। सर्वज्ञशासन का शरण ग्रहण करने वाला सुसंस्कृत परिवार में जन्म धारण करने वाले हमारे भाई उनसे भी दो कदम आगे बढ़कर कहते हैं; मेरा आत्मा ज्ञाता तथा दृष्टा है। स्वयं जगत् का परिणमन-चक्र चला करता है। खाओ, पिओ, मजा उड़ाओ, अध्यात्मशास्त्र के भक्तों की कक्षा में अपना नाम लिखा लो। तुम समयसार-ग्रन्थ साथ में अवश्य रख लेना। उसका अर्थ समझ में न आवे अथवा समयसार शब्द का क्या भाव है, यह भी पता न हो, तो भी कोई हानि नहीं है। उस शास्त्र का सानिध्य मात्र सब सङ्कटों से बचा लेगा। वह शास्त्र कहता है; अत्यन्त आनन्द पूर्वक विलासिता के भवन में निवास करने

में हानि नहीं है। पुष्पशय्या पर समासीन होकर कभी कभी आंखों को बन्दकर आत्मदेव की जय कह लिया करो, तो तुम्हारे दोष उसी प्रकार दूर हो जायंगे, जिस प्रकार गांधी जी की जय बोलकर स्तुति करने वाले बहुतसे लोग शासन-सत्ता के उच्च भार को स्वीकार कर अल्पकाल में निर्धनता के कुचक्र से छूट विपुल सम्पत्ति के स्वामी बनते हैं। ऐसे हमारे गणतंत्र के अनेक प्रभुओं के सब सङ्कट दूर हो जाते हैं। सग्रन्थ मुक्ति मानने वालों के मुख में तपस्या के तिरस्कार की बात कदाचित् उपयुक्त मानी जा सकती है, किन्तु निर्ग्रन्थ दिगम्बर-धर्म का शरण स्वीकार करने वाले यदि परिग्रह पिशाच का आश्रय ले संयम तथा संयमी के प्रति ऐसा प्रेम दिखाते हैं, जैसा वन में विचरण करने वाले निर्दोष हरिण के प्रति शिकारी दिखाता है, तो समझना चाहिए कि अब पानी ने भी पैट्रोल का रूप धारण कर लिया है। इस स्थिति में वह भी आग बुझाने के काम में नही लाया जा सकता। भैया भगवतीदास ने एक पद्य में लिखा है :—

तुम त्रिभुवन के राय, भरम जिन भूलो 'भैया'।

हे आत्मन् ! तू सिद्धलोक का निवासी है। त्रिभुवन का नाथ है। इतना कथन मात्र यदि आत्मा की चिरसंचित मलिनता को दूर करके उसे उसकी रत्नत्रय विभूति का अधिपति बना जन्म के कुचक्र से बचा देता, तो तीर्थंकर भगवान क्यों तपोवन को जाते ? क्यों उनका तप कल्याणक महोत्सव मनाता जाता ? खदान से निकले हुए मलिनतामय सुवर्ण पाषाण पर ममता न कर जिस प्रकार सुवर्ण-प्रेमी उसे अग्नि में पुनः २ डालकर परिशुद्ध करता है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान कथित सदाचरण तथा तपश्चर्या के द्वारा जीवन अकलंक बनाया जाता है। प्रमाद में फंसे हुए मनुष्य की उस भ्रमर समान गति होती है, जो कमल के सौरभ पान में मस्त हो कोमल पत्रों के भीतर स्वयं को कैदी बनाता है और क्षणभर में अपने सुमधुर स्वप्न में निमग्न उस भ्रमर को कोई गजराज अपने विशाल उदर में रखकर यमलोक में पहुँचा देता है।

संयम रूपी संजीविनी

जीव के तृष्णा-रोग को दूर करने के लिए संयम रूपी संजीविनी का सेवन आवश्यक है। कुंदकुंद-स्वामी ने लिखा है कि निश्चित निर्वाणवाले तीर्थंकर भगवान भी तपका शरण ग्रहण

करते हैं। समंतभद्र स्वामी ने इस बात का रहस्य समझाया है कि जिनेन्द्र भगवान क्यों बाह्य तप को ग्रहण करते हैं? आदिनाथ भगवान ने छह माह का उपवास क्यों किया था? क्या उनका कार्य आज के अध्यात्म पाठियों की दृष्टि में अनुचित नहीं माना जायगा? ऐसे अज्ञान प्रचुर प्रश्नों का निवारण इस उत्तर से हो जाता है कि उनने अंतरंग तप (अर्थात इच्छाओं के विरोध के लिए एवं ध्यान की सिद्धि के लिए) की वृद्धि के लिए बाह्य तप को धारण किया था।[2]

कृषि के सूखने पर वर्षा क्या काम आती है? पश्चात्ताप ही हाथ लगता है, इसी प्रकार संयम पालन की शक्ति रहते हुए जीवन विलासिता के मध्य बिता दिया। जीवन की संध्या-वेला में रोगादि से पराधीन पड़ा मनुष्य दूसरी दुनियां का रास्ता नापता बैठता है। हाट उठ जाने पर जैसे वस्तुएं नहीं मिलती हैं, इसी प्रकार जीवन की हाट उठने के बाद फिर संयम की निधि नहीं मिल पाती। भूधरदास जी बड़े प्रेम से समझाते हैं:—

कवि भूधर की सलाह

कर कर जिन गुन पाठ, काल अकारथ रे जिया।
आठ पहर में साठ घड़ी घनेरे मोल कीं॥

उनकी यह वाणी हृदय के भीतर स्थान देने योग्य है। वे कहते हैं:—

जोई दिन कटै सोई आव में अवश्य घटै।
बूंद बूंद रीतै जैसे अंजुली कौ जल है॥

आयु क्षय का क्रम तो प्रतिक्षण जारी रहता है, इसके सिवाय और क्या २ होता है, उस ओर कवि की पवित्र दृष्टि जाती है, अतः वह अपनी आत्मा की इस प्रकार स्थिति को स्पष्ट करता है:—

देह नित छीन होत, नैन तेज हीन होत।
जोबन मलीन होत, छीन होत बल है॥

---

२ बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वं
आध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्—८३ स्वयंभूस्तोत्र

इसके सिवाय और क्या हो रहा है? कवि कहता है:—

आवै जरा नेरी, अंतक-अहेरी तकै।

शरीर क्षीण हो रहा है, यौवन का सौरभ लुटता जा रहा है, बुढ़ापा घेर रहा है और मृत्यु रूप शिकारी ताक रहा है। ऐसी स्थिति होते हुए कवि बड़े ही मार्मिक उद्‌गार निकालता है:—

परभौ नजीक, जात नरभौ विफल है।

ऐसी स्थिति में गहरी सांस लेते हुए सुकवि अपनी व्यथा सुनाते हैं:—

मिलकै सिलापी-जन पूछत हैं कुशल मेरी,
ऐसी दशा में मित्र! काहे की कुशल है?—जैनशतक, ३७।

मार्मिक घटना

चंद्रप्रभ चरित्र में एक मार्मिक घटना इस प्रकार अंकित की गई है। कनकप्रभ राजा ने अपने राजभवन से एक वृद्ध पिपासित बैल को प्रगाढ़-पंक में फंसकर छटपटाते हुए मृत्यु के मुख में जाते देख विरक्ति का अनुभव किया। नरेश सोचते हैं:—

प्रहृतं मरणेन जीवितं जरसा यौवन मेष पश्यति।
प्रतिजन्तु जनस्तदप्यहो स्वहितं मंदमतिर्न पश्यति॥ ६६-१॥

जीवन मृत्यु के द्वारा विनष्ट होता है। यौवन को बुढ़ापा नष्ट करता है। यह बात प्रत्येक प्राणी के विषय में दृष्टिगोचर होती है, फिर आश्चर्य है कि मंदमति मानव अपने कल्याण को नही देखता है।

उचित उक्ति

आचार्य वादीभसिंह प्रबल युक्ति का आश्रय ले भव्य जीव को समझाते हैं:—

अवश्यं यदि नश्यंति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा॥६८-१॥ क्षत्रचूड़ामणि—

यदि भोग्य सामग्री बहुत समय तक स्थित रहकर नियम से नाश को प्राप्त होती है, तो बुद्धिमत्ता इसमें है कि उसके नष्ट होने के

पहिले उसका ही त्याग कर दिया जाय। इस त्याग के मार्ग से मुक्ति का लाभ होगा। यदि ऐसा न कर भोगों में फंसे रहे और उनका साथ छूट गया, तो विषयासक्ति न छूटने से संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। विषयासक्त प्राणी को छटपटाती हुई मक्खी की अवस्था से शिक्षा लेनी चाहिए—

मक्खी बैठी शहद पर पंख लिए लिपटाय।
हाथ मलै अरु सिर धुनै लालच बुरी बलाय॥

विषयों में मस्त व्यक्ति की भी ऐसी ही दुर्दशा एक दिन हुआ करती है। अतः यह उचित है कि विवेकी व्यक्ति सद्बुद्धि से काम लेवे, जिससे उसका अकल्याण न होवे।

जो व्यक्ति विषयों की दासता में प्रसन्नता का अनुभव करता है, जो विषय-भोगी समाज को प्रेम भाव से देखता है तथा जो संयमी पुरुष का दर्शन कर ऐसा ही भाव धारण करता है, जैसे गौ को देखकर व्याघ्र का परिणाम होता है, उसको सम्यक्त्वी मानना कांच खण्ड को मणि समझने सदृश चेष्टा है। जो तत्वज्ञ कर्म-पटल के नीचे दबी हुई आत्म ज्योति का दर्शन करता है, उसकी संयम की प्यास उस पपीहे से भी अधिक होती है, जो मेघ-बिन्दु-पान के लिए सदा अपना मुंह खोले रहता है। वह जिनेन्द्र का परम भक्त होता है, अतः जिनवाणी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा धारण करता है। जिनेन्द्र मुद्रा को स्वीकार करने वाले सत्पुरुष का दर्शन कर अपार हर्ष को प्राप्त होता है। मुनि पदवी को प्राप्त पुरुष के सम्यक्त्व का सद्भाव है या नहीं; इसे जानने की सामर्थ्य मति श्रुतज्ञानी में नहीं पाई जाती। व्रत, समिति आदि २८ मूलगुणों के पालन में तत्पर मुनि की वह योग्य विनय पूर्वक सेवा तथा आराधना करता है। संयमी के गुणों का अनुरागी बनकर वह मुमुक्षु अपने जीवन में सकल-संयम-धारण की सुघड़ी की हृदय से आकांक्षा करता है।

साधु-विरोध की दूषित-धारणा का कुफल

जिनधर्मी गृहस्थ यदि जैन गुरु को देखकर शत्रुता धारण करेगा, तो सद्धर्म का यह कल्पवृक्ष कैसे फूलेगा तथा फलेगा? जीवन में पूर्णता तो सर्वज्ञ भगवान में पाई जाती है। केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व तीर्थंकर के मुनिबनने पर पूर्ण निर्दोषता की कल्पना नहीं की जा सकती।

कमसे कम क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों का सद्भाव उनके भी छद्मस्थ अवस्था में पाया जाता है। चतुर व्यक्ति उनके दिव्य गुणों पर दृष्टि डालकर अपना हितसाधन करता है।

जोंक का जीवन

दोषों के संग्रह करने वाले व्यक्ति की दृष्टि उसी प्रकार निंद-नीय कार्य करती है, जिस प्रकार जोंक गाय के थन में विद्यमान दुग्ध को छोड़कर रुधिर पान करती है। छिद्रान्वेषण की अतिरेक पूर्ण वृत्ति वाला म्युनिसपल के सफाई विभाग में कार्य करनेवाले नाली-निरीक्षक का अनुकरण करता है। सर्वदा खोटी दृष्टि रखने वालों का अकल्याण तो होता ही है, क्योंकि उनका मन पाप-पंक में फंसा रहता है, उनके द्वारा स्वस्थ समाज का निर्माण भी संकटापन्न बन जाता है। भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के समय एक मिस मेयो नामकी विदेशी नारी ने भारत वर्ष का गंदा चित्रण करते हुए 'मदर-इण्डिया' नामकी पुस्तक बनाई थी, जिसका समस्त भारत देश ने घोर विरोध किया था। उसके विषय में देश नेता गांधीजी ने कहा था कि मिसमेयो ने भारत की गंदी ही बातों का संग्रह कर नाली-निरीक्षिका-'गटर इंसपेक्ट्रेस' का काम किया।

गुणानुराग चाहिए

धर्म का प्रेमी सम्यक्त्वी अथवा होनहार सम्यक्त्वी गुणदृष्टि बनकर स्व-पर का हित साधन करता है। वीतराग प्रभु के शासन के आराधक आजके गृहीत-मिथ्यात्व-प्रचुर कलिकाल में वैसे ही अंगुलियों पर गणनायोग्य हो गए हैं तथा उनकी संख्या घटती जा रही है। ऐसी संकट की वेला में जिनेन्द्र के वंदकों के मध्य प्रगाढ़ अनुराग तथा वात्सल्य का जागरण जरूरी है, अन्यथा विनाश का राक्षस पुण्य संस्कृति को निगलने का कार्य किये बिना न रहेगा। धर्म तथा संस्कृति के प्रति हार्दिक ममता धारण करनेवाले महानुभावों को समाज की तथा लोक की परिस्थिति पर गंभीर विचार करना चाहिए।

जननी की अपने पुत्र के प्रति जैसी आत्मीयता पूर्ण दृष्टि रहती है, उसके समान भाव साधर्मीवर्ग के प्रति आवश्यक है। माता जन-साधारण के समक्ष अपने पुत्र के दोषों को प्रकाशित न करके हर

उचित उपाय का आश्रय ले पुत्र को निर्दोष बनाने का उद्योग करती है। ऐसा वात्सल्य भाव मोक्ष-मार्गस्थ व्यक्तियों के प्रति आवश्यक है। कटु समालोचना की 'कुटेब' वालों से लोक हित के स्थान में द्वेषाग्नि जला करती है। दूसरे के दोष दूर करने की सद्भावना से कही गई वाणी का प्रकार ही दूसरा हुआ करता है। सुभाषितकार की यह सूक्ति विशेष अनुभव पूर्ण है :—

कानै से काना कहो तुरतई आवे टूट।
धीरे धीरे पूछलो कैसे गई भाई फूट॥

कठोर वाणी का घाव शत्रुता को बढ़ाता है; उससे निर्माण का कार्य नहीं बनता। मुमुक्षुओं को यह बात स्मरण योग्य है, कि वाणी की कठोरता शस्त्रप्रहार की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण होती है। सोमदेव सूरि का कथन है:—"वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते"।

जिस प्रकार अंगहीन मनुष्य सुन्दर नहीं लगता, उसी प्रकार अंग हीन सम्यक्त्व की भी दशा होती है। जिस आत्मा में सम्यक्त्व की पुण्य-ज्योति जागृत होती है, वह अंजन के समान निःशंकित, अनंतमती के समान निःकांक्षित, उद्दायन के समान निर्विचिकित्सा, वारिषेण के समान स्थितिकरण, विष्णुकुमार के समान वात्सल्य, रेवती के समान अमूढ़दृष्टि, जिनेन्द्रभक्त के समान उपगूहन, वज्रकुमार के समान प्रभावना रूप अष्टांगों से अलंकृत होता है। आज का अणुयुगी विलक्षण सम्यक्त्वी कुगुरु, कुशास्त्र, कुदेव के आराधकों के प्रति वात्सल्यादि भाव धारण करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति में विवेक के प्रति स्पष्ट रूप से शत्रुता का भाव दिखाई पड़ता है।

सम्यक्त्व की एजेन्सी

कोई-कोई यह धारणा बांधे हुए हैं कि उनके पास ही सम्यक्त्व की एजेन्सी है। वे जिसको चाहे सम्यक्त्वी माने, अथवा मिथ्यात्वी घोषित करें। ऐसे सम्यक्त्व पर विशेष स्वत्वधारी कहा करते हैं, हमारी भी संयम के प्रति हार्दिक भक्ति है किंतु हमारा यही कथन है, कि सम्यक्त्व प्राप्त करने के उपरान्त व्रत, तपादि स्वीकार करो, तब वह सम्यक्चारित्र कहा जायगा; अन्यथा वह मिथ्याचारित्र ही है। मिथ्या-चारित्रवाले को प्रणाम करना सम्यक्त्व के लिए हानिकारक है।

यह कथन स्थूल दृष्टि से निर्दोष प्रतीत होता है, किन्तु इस विषय में यह बात भी सोचने योग्य है कि सम्यक्त्व रूप परिणाम अत्यन्त सूक्ष्म है। उसका दर्शन जिन महाज्ञानी मुनियों को होता है, उनका इस क्षेत्रों आजकल असद्भाव है, तब दूसरे के सम्यक्त्व का पक्का निश्चय कौन कर सकता है? काललब्धि आदि योग्य साधन-सामग्री का सन्निधान न होने पर यदि सम्यक्त्व का लाभ न हुआ और असंयमपूर्वक जीवन व्यतीत हुआ, तो मृत्यु के उपरांत वह जीव विषयासक्ति के कारण कुगति में कष्ट प्राप्त करेगा।

पाप त्याग से लाभ

कदाचित् सम्यक्त्व का लाभ नहीं हुआ, फिर भी यदि पाप प्रवृत्तियों का त्याग किया, तो उससे यह जीव कुगति में पतन से बचेगा। देव पर्याय प्राप्तकर साक्षात् सीमंधर, जुगमंदर, बाहु, सुबाहु आदि तीर्थंकरों के समीप जाकर उनकी दिव्यध्वनि को सुनकर अपने मिथ्यात्व रोग को दूर करेगा। अकृत्रिम जिन बिम्बों के दर्शन द्वारा भी आत्म-दर्शन की सामर्थ्य को प्राप्त कर सकेगा।

हिंसात्मक प्रवृत्तियों के परित्याग द्वारा व्यक्ति का सुधार होने के साथ समाज तथा राष्ट्र का भी कल्याण होता है। हीनाचरण का त्याग करने से आत्मा का अहित नहीं होता है। संयम का अभ्यास करने वाला जीव ऐसी भव्य परिस्थिति को प्राप्त करता है, जबकि वह आत्मचिंतनादि से दर्शन-मोहनीय कर्म को दूर कर सकता है। विवेकी व्यक्ति यदि व्रत, उपवास करता है, तो उसको अनात्म भावों से मन को दूर कर आत्मोन्मुख बनने के योग्य विशेष अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है। जैसे पवन के बहने से चंचल जल में अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखता है; किन्तु यदि किसी उपाय से चंचलता के कारण वायु का आगमन रोक दिया गया, तो उस निस्तब्ध जल में अनायास अपना मुख दिखाई देता है; इसी प्रकार राग-द्वेषादि के कारण उत्पन्न होनेवाली चंचलता रुक गई, तो आत्मदेव का दर्शन होते देर नहीं लगती।

सम्यक्त्व के पश्चात् ही व्रती बनने के पक्ष में बाधा

सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद ही व्रत ग्रहण करेंगे, यह एकान्त रूप से पकड़ना हितप्रद नहीं है। किसी व्यक्ति को

संदूक के भीतर रह गई और उसने ताला बंदकर दिया। ताला खुले बिना चाबी नहीं निकलती, तथा चाबी के बिना ताला नहीं खुलता। ऐसी स्थिति सम्यक्त्व तथा संयम के विषय में नहीं उत्पन्न करना चाहिए। कर्म आत्मा के शत्रु हैं। उनके अनुकूल दास बनकर सेवक वृत्ति स्वीकार करना अयोग्य है। पराक्रमी व्यक्ति शक्तिभर प्रयत्न करता है; कि वह शत्रु के पक्ष का पोषण कमसे कम करता जाय। इंद्रियों पर संयम का अंकुश मारने वाला व्यक्ति इतना मनोबल प्राप्तकर लेता है कि मिथ्यात्व पटल दूर होते ही वह अप्रमत्त-गुणस्थान नामक आत्म-विकास की सातवीं श्रेणी पर पहुँच जाता है। जिस व्यक्ति ने इंद्रिय-जय, कषाय-निग्रहादि का अभ्यास नहीं किया है और यदि शरीर शिथिल हो गया है, तो वह व्यक्ति सम्यक्त्व का लाभ होने पर चतुर्थ गुणस्थान से आगे नहीं बढ़कर अव्रती के रूप में ही मरण करेगा।

इस प्रसंग में यह बात भी विचारणीय है; यदि शंकाकार की मान्यता के अनुसार सम्यक्त्व के अभाव में व्रतादि ग्रहण करना ठीक नहीं है, तो जिस जीव ने सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् महाव्रत को धारणकर भाव लिंगी मुनि की पदवी प्राप्त की; किन्तु अल्पकाल के पश्चात् पुनः उसके मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ गया, इससे वह मिथ्यात्व गुणस्थान में गिरकर द्रव्यलिंगी बन गया; ऐसी स्थिति में क्या उस भावतः मिथ्यात्वी व्यक्ति को महाव्रती के नियमों का पालन करना उचित रहेगा, अथवा उनको छोड़कर पुनः गृहस्थ के समान जीवन बिताना ठीक होगा? आदर्शवादी मनोबली सत्पुरुषों की यही सलाह होगी, कि अंगीकृत नियमों का प्राण जाने पर भी संरक्षण करना चाहिए। ऐसी स्थिति में यदि सम्यक्त्व-भ्रष्ट व्यक्ति की अहिंसादि की आराधना उचित है, तो यही न्याय सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पूर्व भी क्यों न लागू किया जाय? मिथ्यात्व का सद्भाव दोनों अवस्थाओं में समान रूप से है।

भ्रान्त धारणा

जो यह मान बैठे हैं कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद कभी भी नहीं छूटता, वे भ्रम में हैं। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अंतर्मुहूर्त है। क्षयोपशम सम्यक्त्व की छियासठ सागर प्रमाण स्थिति कही गई है। इस प्रसंग में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह गाथा ध्यान देने योग्य है।

गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंखेज्जवाराओ।
पढ़मकसाय - विणासं देसवयं कुणइ उक्किट्ठं ॥ ३१० ॥

यह जीव औपशमिक तथा क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व, अनंतानुवंधी कपाय का विसंयोजन तथा देशसंयम इन चार बातों को उत्कृष्ट से असंख्यात वार ग्रहण करता है तथा परित्याग भी करता है।

इस आगम द्वारा असंख्यातवार सम्यक्त्व की उत्पत्ति तथा विनाश बताया गया है, अतः एक व्यक्ति के जीवन में अनेक वार भावलिंगी एवं द्रव्यलिंगी बनने का प्रसंग आ सकता है। जैसे किसी के घर में विजली के प्रकाश योग्य सब सामग्री तैयार है, तो जब भी विद्युत् का प्रवाह वहां आयगा, तब ही तत्काल समस्त घर में उजेला हो जायगा। जब प्रवाह नहीं आयगा, तब फिर से अंधेरा होगा। यह देखते हुए भी अंधेरा हो जाने पर कोई विजली के फिटिंग को गड़बड़ नहीं करता, कारण उसके ठीक रहने पर पुनः प्रकाश प्राप्ति की संभावना है। सम्यक्त्व के विपय में भी यही नियम चरितार्थ होता है। अतएव मुमुक्षुका कर्तव्य है कि नरभव की विशेपता को लक्ष्य में रखकर संयम साधन में क्षणभर भी प्रमाद नहीं करे। द्यानतराय जी ने दशलक्षण पूजा में कितनी मार्मिक वात कही है:—

संयम रतन सम्हाल

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री, मन वश करो।
संयम-रतन सम्हाल, विषय-चोर बहु फिरत हैं॥

कार्तिकेयानुप्रेक्षा का यह कथन प्रत्येक नर देह धारी प्राणी के ध्यान देने योग्य है। आचार्य कहते हैं:—

मणुअगईए वि तओ मणुअगईए महव्वयं सयलं।
मणुअगईए झाणं मणुअगईए वि णिव्वाणं॥ २९९ ॥

इस मनुष्य गति में ही तप होता है। मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं। मनुष्यगति में ही ध्यान होता है। मनुष्यगति में ही निर्वाण होता है।

इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमंति विसएसु।
ते लहिय दिव्वरयणं भूइणिमित्तं पजालंति॥ ३०० ॥

इस प्रकार अपूर्व-सामर्थ्य-संपन्न दुर्लभ मनुष्य पर्याय को पाकर जो जीव विषयों में रमण करते हैं, वे दिव्यरत्न को प्राप्तकर भस्म के लिए उसको दग्ध करते हैं।

इस कथन से यह बात विदित होती है कि आज जो लोग सम्यक्त्व का वर्णन पढ़कर संयम तथा संयमी के प्रतिकूल प्रवृत्ति करते हैं, वे अपने पैरों पर कुठाराघात करते हैं। जैन-शास्त्रों में वर्णित आहारपान की शुद्धि नीरोगता तथा दीर्घजीवन प्रदान करती है। अहिंसादिरूप आचरण द्वारा एक जैन, समाज तथा राष्ट्र के लिए, उपयोगी व्यक्ति बनता है। ऐसा धर्मात्मा गृहस्थ कानून के प्रहार से बचता है। प्रथमानुयोग शास्त्रों के मनन द्वारा यह तत्व उपलब्ध होता है, कि मोक्ष जानेवाले महापुरुषों ने अपने आत्मविकास की ओर पदार्पण करने के प्रारम्भ काल में व्रताचरण किया था, पश्चात् योग्य काल में उनकी आत्मा रत्नत्रय से अलंकृत हुई थी।

सम्यक्त्व की महिमा को पढ़ने वाला प्रत्येक प्राणी चाहता है, कि यह रत्न अविलम्ब मिल जाय, किन्तु बाह्य–अंतरंग सामग्री की अनुकूलता तथा विपरीत सामग्री का अभाव हुए बिना उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। इस सत्य को हृदयंगम करने के लिए महापुराण में वर्णित आदिनाथ भगवान के जीवन से प्रकाश प्राप्त होता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है, कि बुद्धिपूर्वक श्रेष्ठ उपाय करते हुए भी सागरों पर्यन्त समय सम्यक्त्व की प्रतीक्षा में व्यतीत हो जाता है।

आदिनाथ प्रभु के जीवन से प्रकाश

भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर पहले दशमें भव में महाबल नाम के प्रतापी तथा पुण्यवान राजा थे। गगनगामी आदित्यगति तथा अरिंजय महामुनियों का दर्शन कर स्वयंबुद्ध मंत्री को यह बात विदित हुई कि महाबल राजा का जीवन-प्रदीप एक माह के अंत में बुझने वाला है। बुद्धिमान महाबल ने समाधिमरण धारण करने में अपना मन लगाया। अतिशय समृद्धिशाली वह राजा राजभवन के उद्यान में विद्यमान जिन मंदिर में भक्तिपूर्वक आष्टाह्निक महापूजा करके पश्चात् सिद्धकूट चैत्यालय में पहुँचा। सिद्ध प्रतिमाओं की पूजा के अनंतर गुरु की साक्षीपूर्वकमहाबल ने जीवन पर्यन्त के लिए आहार पानी तथा

शरीर से ममत्व छोड़कर सल्लेखना स्वीकार की। बाईस दिन में महाबल के देह में हड्डी और चर्ममात्र शेष रहे थे। निर्मल भावों के साथ पंच परमेष्ठियों का ध्यान करते हुए महाबल ने स्वयंबुद्ध मंत्री के समक्ष सुखपूर्वक प्राण छोड़े।

महाबल का जन्म ऐशान स्वर्ग के श्री प्रभ नाम के विमान में हुआ। अब वह जीव ललितांग देव रूप से प्रसिद्ध हुआ। दो सागर पर्यन्त दिव्य सुखों का उपभोग किया। मरण समीप आने पर ललितांग ने पन्द्रह दिन पर्यन्त समस्त जिन चैत्यालयों की वंदना की। पश्चात अच्युत स्वर्ग की जिन प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ वह चैत्यवृक्ष के नीचे बैठ गया। उच्चस्वर से पंच नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते करते जीवन लीला समाप्त हुई।

अब ललितांग देव का जन्म पुष्कलावती देश में हुआ। उसका नाम वज्रजंघ हुआ। वज्रजंघ महाराज ने अपनी महारानी श्रीमती के साथ दमधर तथा सागरसेन नाम के चारण मुनियुगल को भक्तिपूर्वक जंगल में आहारदान दिया। उसके फल स्वरूप पंचाश्चर्य हुए। पात्रदान के प्रभाव से उनने उत्तरकुरु भोगभूमि का बंध किया था। मरण के पश्चात् महाबल राजा का जीव चतुर्थभव में भोगभूमिया हुए। श्रीमती भी आर्या हुई।

स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव देव हुआ था। वहां से चयकर प्रीतिंकर नामका राजपुत्र हुआ। उसके अनुज का नाम प्रीतिदेव था। दोनोंने दीक्षा लेकर तप के प्रभाव से अवधिज्ञान तथा चारणऋद्धि प्राप्त की। महाबल राजा की पर्याय में स्वयबुद्ध मंत्री का उन पर बड़ा प्रेम था। उस पूर्व सम्बन्ध को स्मरणकर प्रीतिंकर महामुनि प्रीतिदेव मुनिराज के साथ आकाश-गमन करते हुए भोगभूमि आए जहां महाबल राजा का जीव 'आर्य' कहलाता था। उनने कहा; हे आर्य ! हम दोनों ने अपने अवधिज्ञान रूपी नेत्रसे जाना कि आप यहां उत्पन्न हुये हैं। आप हमारे परम मित्र थे, इसलिए आपको समझाने के लिए हम यहां आए हैं।

मुनिराज के ये शब्द इस प्रसंग में विशेष ध्यान देने योग्य है

विद्धांकुरु कुरुष्वार्य पात्रदान-विशेषतः ।
समुत्पन्न-मिहात्मानं विशुद्धाद् दर्शनाद् विना ॥-११८-६ ॥

हे आर्य ! तू निर्मल सम्यग्दर्शन के बिना केवल पात्रदान की विशेषता से ही यहां उत्पन्न हुआ है, यह निश्चय समझ।

महाबलभवेऽस्मत्तो बुध्वा त्यक्ततनुस्थितिः ।
नालब्धा दर्शने शुद्धिं भोगकांक्षानुबंधतः ॥ ११३ ॥

महाबल के भव में तूने हम से ही तत्वज्ञान प्राप्तकर शरीर छोड़ा था, परन्तु उस समय भोगों की आकांक्षावश तूने सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को नहीं प्राप्त किया था।

महापुराण के हिन्दी अनुवाद से भ्रान्ति

यहां श्लोक में आगत शब्द (ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित अनुवाद में) 'बुध्वा' का अनुवाद 'तत्वज्ञान प्राप्तकर' यह सन्देह उत्पन्न करता है कि महाबल राजा के जीव को पूर्व में ही सम्यग्दर्शन हो गया था। उस शब्द का अनुवाद यदि 'ज्ञान प्राप्तकर' होता तो संदेह को स्थान नहीं रहता। अस्तु, आगे के श्लोकों से यह स्पष्ट होता है कि महाबल, ललितांग, वज्रजंघ की पर्यायों में भी सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ था, अतः सम्यक्त्व के हेतु देशनालब्धि दाता के रूप में भावि तीर्थंकर के हितार्थ ये चारण मुनियुगल आए हैं। मुनिराज कहते हैं—

तस्मात्ते दर्शनं सम्यग्विशेषण-मनुत्तरम् ।
आयातौ दातुकामौ स्वः स्वर्मोक्ष-सुखसाधनम् ॥ ११४ ॥

अब हम दोनों सर्वश्रेष्ठ तथा स्वर्ग एवं मोक्ष संबंधी सुखके कारण रूप सम्यग्दर्शन को देने की इच्छा से यहां आए हैं।

तद्. गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते ।
काललब्ध्या विना नार्ये तदुत्पत्ति-रिहांगिनाम् ॥ ११५ ॥

इससे हे आर्य ! आज सम्यक्त्व को ग्रहण कर, (अद्य सम्यक्त्वं गृहाण) क्योंकि उसके ग्रहण करने का यह समय है। इस संसार में काललब्धि के विना जीवों के सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती।

सम्यक्त्व खेल नहीं है

इस कथानक से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सामान्य खिलवाड़ नहीं है। वह ऐसी वस्तु नहीं है, जो

सभाओं, या धनिकों या अन्य विद्वानों के सम्मेलनों या प्रस्तावों के द्वारा पुरस्कार रूपमें बांटी जा सके। जब तक जीव का संसार परिभ्रमण समाप्त नहीं होता, तब तक विविध प्रयत्नों का आश्रय लेते हुए भी उस निधिका लाभ नहीं होता।

सम्यक्त्व का स्वरूप

आज ऐसे अनेक व्यक्ति मिलते हैं, जो समयसार के कुछ वाक्यों को पुनः पुनः सुनना, सुनाना ही सम्यक्त्व मानते हैं। चारणमुनि प्रीतिंकर स्वामी ने भोगभूमिया आर्यको जो सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया था, उसका कुछ उपयोगी अंश महापुराण से यहां देना उपयोगी प्रतीत होता है। जिनसेन स्वामी ने लिखा है—" जिस जीव का आत्मा अनादिकाल से लगे हुए मिथ्यात्व रूपी कलंक से दूषित हो रहा है, उस जीव को सबसे पहले दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। यह भव्य जीव अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों द्वारा मिथ्यात्व प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति रूप तीन खंड करके कर्मों की स्थिति कम करता हुआ सम्यग्दृष्टि होता है।

वीतराग सर्वज्ञदेव, आप्त कथित आगम और जीवादि पदार्थों का बड़ी निष्ठा से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है। यह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र का मूल कारण है। प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये चार सम्यग्दर्शन के गुण हैं। श्रद्धा, रुचि, स्पर्श तथा प्रत्यय उसके पर्यायवाची शब्द हैं। हे आर्य, तू इस श्रेष्ठ जैन मार्ग में सदेह को छोड़ भोगों की इच्छा दूर कर। ग्लानि को छोड़कर अमूढ-दृष्टि को प्राप्त कर, दोष के स्थानों को छिपाकर समीचीन धर्म की वृद्धि कर। मार्ग से विचलित होते हुए धर्मात्मा का स्थितीकरण कर। रत्नत्रय के धारक आर्य पुरुषों के संघ में वात्सल्य का विस्तार कर और यथाशक्ति जिनेन्द्र के शासन की प्रभावना कर। देव मूढ़ता, लोक मूढ़ता और पाषंड मूढ़ता का त्याग कर, क्योंकि मूढ़ताओं से अंधा प्राणी तत्वों को देखता हुआ भी नहीं देखता है। जो पुरुष एक मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, वह इस संसार रूपी वेल को काटकर बहुत ही छोटी कर देता है। तू सम्यग्दर्शन रूपी तलवार के द्वारा संसार रूपी लता की दीर्घता को काट।

प्रीतिकर आचार्य के वचनों को प्रमाण मानते हुए वज्रजंघ के जीव आर्य ने अपनी स्त्री के साथ सम्यग्दर्शन धारण किया।

आज जब कभी किसी व्यक्ति को पाप प्रवृत्तियों का त्यागकर सदाचार के पथ पर चलने को प्रेरणा की जाती है तथा जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री सेवन आदि महान पापों को छोड़ने का उपदेश दिया जाता है, तो वह कहता है, कि मैं तो अविरत सम्यक्त्वी हूँ। सम्यक्त्वी के लिए चारित्र धारण करने की, बुद्धिपूर्वक उद्योग-पुरस्सर, कोई आवश्यक्ता नहीं है।

आत्म-वंचना

जब भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में हमारा चारित्ररूप परिणमन झलका है, तब स्वयमेव हमारे भावों में संयम रूप परिणमन हो जायगा। देखो चक्रवर्ती भरत महाराज ने कोई व्रत नहीं लिए थे और दीक्षा लेते ही उनने अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हमें भविष्य की कोई चिन्ता नहीं करना चाहिए। "जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे। अनहोनी कबहुं होवे नांही काहे होत अधीरा रे।" अतः सम्यक्त्व की चर्चा करना चाहिए; उसका आनन्द लेना चाहिए तथा चारित्र और चारित्रवालों के फंदे में नहीं फंसना चाहिये।

यह कथन अविचार तथा अविवेक पूर्ण भ्रांतधारणा पर अवस्थित है। शंकाकार भाई विषय-भोग के विषय में पूर्ण स्वतंत्रता देना चाहते हैं। वे यह बात भूल जाते हैं कि विषय सेवन में निरन्तर लगे रहने वाला आर्तध्यान, रौद्रध्यान के कारण कुगतियों में भटकता फिरता है और अवर्णनीय दुःख पाता है। विषयों के विषय में नियंत्रण आवश्यक हैं। कुंदकुंदस्वामी ने लिखा है कि यह जीव जिस प्रकार का अनुराग पुत्र, कलत्र, काम, भोगादि के प्रति करता है, उस प्रकार का प्रेम यदि जिनेन्द्र भगवान के रत्नत्रय धर्म की ओर लग जाय, तो सहज ही अक्षय सुख को प्राप्त कर ले।

क्या हमारा परिणमन भगवान के ज्ञान पर निर्भर है ?

हम अपने भाग्य के निर्माता हैं। अपने परिणमन के स्वामी हैं। भगवान का साक्षात् लाभ इस क्षेत्र में असम्भव है, ऐसी दशा में

उनके ज्ञान के ऊपर अपने भविष्य को आश्रित करके बातें बनाना अयोग्य है। हमारा परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन कैसे माना जायगा, भले ही उनके ज्ञान में जैसा पदार्थ का रूप झलका है, उसी प्रकार पदार्थों का परिणमन होता है। यह कहना अधिक उचित लगता है। "जोजो होसी सो सो देखी वीतराग ने वीरा रे"। यदि हम भविष्य के बारे में अभी से सावधानी नहीं रखेंगे और प्रमादी बनेंगे, तो आगे पश्चात्ताप के सिवाय और क्या हाथ लगेगा? यदि हम अकर्मण्य बन रेलवे स्टेशन न जावें, तो ट्रेन हमारे पास आकर हमें ले जाने वाली नहीं है। यदि हमें शिवपुरी जाना है, तो हमें स्टेशन पर जाकर गाड़ी आने पर उसमें बैठना होगा, तब ही गंतव्य स्थल को पहुँच सकेंगे। धर्म कार्य में अकर्मण्यता की वाणी अशोभन है। उस दिशा में हमें उत्साह मूर्ति बनकर कार्य करना चाहिए।

भरतेश्वर व्रती थे—

भरत महाराज अव्रती थे, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। महापुराण में लिखा है कि चक्रवर्ती भरत महाराज ऋषभनाथ भगवान के समवशरण में गए थे। भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर भरत महाराज ने सम्यग्दर्शन की शुद्धि तथा व्रतों की परम विशुद्धता को प्राप्त किया था। महाकवि आचार्य जिनसेन स्वामी ने यही बात निम्नलिखित पद्य में निबद्ध की है।

ततः सम्यक्त्व-शुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम् ।
निष्कलाद् भरतो भेजे परमानंद-मुद्वहन् ॥१६३—२४॥

जिनसेन स्वामीने यह भी लिखा है :—

स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायकाम ।
व्रतशीलावलीं मुक्तेः कंठिकामिव निर्मलाम् ॥ १६५ ॥
दिदिपे लब्धसंस्कारो गुरुतो भरतेश्वरः ।
यथा महाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः ॥ १६६ ॥—२४ ॥

महाराज भरत ने भगवान की आराधना कर जिसमें सम्यग्दर्शन रूपी प्रधान मणि लगा हुआ है और जो मुक्ति रूपी लक्ष्मी के निर्मल कंठहार के समान जान पड़ती थी, ऐसी व्रत और शीलों की

निर्मल माला धारण की थी अर्थात् उनने निर्दोष रीति से पंच अणुव्रत तथा सात शीलों को धारण किया था।

जिस प्रकार किसी बड़ी खान से निकला हुआ मणि संस्कार द्वारा दीप्ति को प्राप्त होता है, उसी प्रकार महाराज भरत भी गुरुदेव से ज्ञानमय संस्कार पाकर सुशोभित होने लगे थे।

सिंह की पर्याय में संयम की साधना—

चक्रवर्ती भरत ने पूर्व भव में भी अपार उत्साह पूर्वक व्रतादि धारण किए थे। महापुराण के आठवें पर्व में भरत महाराज के पूर्व भव का इस प्रकार वर्णन आया है। पिहितास्रव नाम के मुनिराज ने मासोपवास के पश्चात् राजा प्रीतिवर्धन के राजभवन में आहार किया था। इससे देवों ने रत्नों की वर्षा की थी। भरत होने वाले जीव की उस समय सिंह पर्याय थी। वह सिंह पहले अतिगृध्र नामका राजा था। मुनिदर्शन से उस सिंह को जातिस्मरण हो गया। वह अतिशय शांत हो गया। उसकी मूर्च्छा दूर हुई। उसने शरीर और आहार से ममत्व छोड़ दिया। वह सब वस्तुओं से ममत्व त्याग कर एक शिलातल पर बैठ गया। पिहितास्रव मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा सिंह का वृतांत ज्ञात कर प्रीतिवर्धन राजा ने कहा :—

ततो नृपमुवाचेत्थं आस्मिन्नद्रावुपासकः।
सन्यासं कुरुते कोपि स त्वया परिचर्यताम्॥ २०६—८॥

राजन् इस पर्वत पर कोई श्रावक होकर सन्यास कर रहा है। तुम्हें उसकी परिचर्या करना चाहिए।

वह चक्रवर्ती भरत होकर उसी भवसे मोक्ष जाएगा। मुनिराज की आज्ञानुसार राजाने उस सिंहकी योग्य परिचर्या की। मुनिराज ने भी उसके कान में नमस्कार-मंत्र दिया था। अठारह दिन तक आहार का त्याग कर समाधि से शरीर छोड़ वह सिंह स्वर्ग में देव हुआ। (पर्व ८)

भरत चक्रवर्ती की उपरोक्त जीवनी से संयम तथा त्याग भाव को पवित्र प्रेरणा प्राप्त होती है। जो सदाचारको विपत्ति मानता है तथा पापाचारको संपत्ति अनुभव करता है, उस जीवका भविष्य कैसे उज्वल हो सकता है? आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने विषय को विष

की उपमा दी है। विष-भक्षण से एक बार ही मरण प्राप्त होता है, किन्तु विषयों की आसक्तिवश यह जीव जन्म-जन्मान्तर में कष्ट प्राप्त करता है। जिनवाणी के स्वाध्याय से विदित होता है कि अनेक निकृष्ट अवस्था वाले पशुओं ने श्रावक के व्रत लेकर अपना कल्याण किया है; तब अपने को मनुष्य होने से उच्च अनुभव करने वाला मानमूर्ति न्याय की तुला पर तौले कि व्रती पशुओं की अपेक्षा भोगी मानव क्यों न नीचा गिना जायगा ?

गिद्ध का त्यागमय आदर्श

पद्मपुराण में बताया है कि राम, लक्ष्मण तथा सीता दंडक वन में पहुँचे। विचित्र कर्मोदयवश वे बाह्य वैभव विरहित थे, इसलिए सीता ने मिट्टी के बर्तनों में भोजन बनाया। सौभाग्य से दो मासोपवासी सुगुप्ति और गुप्त नामके मुनि—युगल को आहार देने का राम को सौभाग्य प्राप्त हुआ। देवों ने पुष्प वर्षा आदि पंचाश्चर्य द्वारा उस दान की महत्ता घोषित की। यह देख जन्मांतर के संस्कार विशेषके कारण एक महा गिद्ध पक्षी ने आहारदान दर्शन द्वारा जन्मांतर की स्मृति प्राप्त की। वह सोचने लगा—

मनुष्यभावसुकरं प्रमत्तेन मया पुरा।
विवेकिनापि न कृतं तपो धिग्मामचेतनं ॥ ३४–४१ पर्व, पद्मपुराण।

मैंने पूर्व भव में मनुष्य पर्याय में सुलभ तप, प्रमादवश विवेकी होते हुए भी नहीं किया। मुझ चेतना-शून्य प्राणी को धिक्कार है।

मुनिराज के चरणोदक उस पक्षी ने अपने शरीर में लगाया। मुनीश्वरों की तपस्या के प्रभाव से उसका शरीर रत्नों की राशि के समान सुन्दर रंग वाला बन गया। मुनिराज ने उस पक्षीको व्रत धारण करने के लिए उपदेश दिया।

मुनिनाथ ने कहा, हे गिद्धराज! शांत बनो। समस्त प्राणिओं को पीड़ा मत पहुँचाना। असत्य, चोरी तथा परस्त्री का त्याग कर। उज्वल क्षमा युक्त हो पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण कर। रात्रि भोजन त्याग कर तथा पवित्र चेष्टाओं वाला बन। (१) इस प्रकार उसे मुनिराज ने विविध नियम दिये। (२) उनने उसे यथाशक्ति उपवास आदिक तप करने के लिए भी उपदेश दिया था। आजकल उच्चकुल में जन्म लेने

वाले अनेक अहंकारी जैनी जिन व्रतों का नाम सुनते ही साहस छोड़ बैठते हैं, वे नियम उस गिद्ध ने ग्रहण किए थे। सीता का उस पर बड़ा प्रेम हो गया था। मुनिराज ने सीता को आदेश दिया था कि क्रूर-प्राणियों से परिपूर्ण भीषण वन में तुम इस सम्यग्दर्शन युक्त पक्षी का रक्षण करना (३)। इसी पक्षी की जटायु नाम से प्रसिद्धि है।

जैनागम कहता है कि सर्प सदृश जीव ने भी पाप प्रवृत्तियों का त्याग कर अहिंसात्मक स्थिति को धारण कर स्वर्गलोक को प्रयाण किया है।

विद्याधर का अजगर बनना

महापुराण में एक मननीय कथा दी गई है। दण्ड नामका एक विद्याधर था। चिरकाल तक अनेक भोगों को भोगते हुए भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं हो पाई थी। वह विषयासक्त विद्याधर आर्तध्यान पूर्वक मरकर अपने राजमहल के भंडार में ही अजगर हुआ। उसे जातिस्मरण भी हो गया था। वह भंडार में अपने पुत्र मणिमाली को ही घुसने देता था, अन्य को नहीं जाने देता था। अवधिज्ञानी मुनिराज से मणिमाली को अजगर का पूर्ण वृत्तान्त विदित होगया। गुरू के कथनानुसार मणिमाली अजगर के आगे खड़ा होकर स्नेहपूर्ण वचन कहने लगा "हे पिता! तुमने धन ऋद्धि आदि में अत्यन्त ममत्व और विषयों में अत्यन्त आसक्ति धारण की थी। इसी दोष से तुम इस कुयोनि में आकर पड़े हो। अब विषयों की ममता को छोड़ दो।

पुत्र की अमृतवाणी से उस बिषधर की मनोवृत्ति में सहसा परिवर्तन हो गया। महापुराणकार कहते हैं—

---

(१) प्रशान्तो भव मा पीड़ा कार्षीः सर्वासुधारिणाम्।
अनृतं स्तेयतां भार्यां परकीयां विवर्जय ॥ १४२ ॥
एकान्तब्रह्मचर्यं वा गृहीत्वा सत्त्वमान्वितः।
रात्रिभुक्तिं परित्यज्य भव शोभन-चेष्टितः ॥ १४३ ॥—४१ पर्व

(२) उपवासादिकं शक्त्या सुधी नियममाचर ॥ १४४ ॥

(३) अस्मिन्सुगहने अरण्ये क्रूरप्राणी निषेविते।
सम्यग्दृष्टेः खगस्यास्य रक्षा कार्या त्वया सदा ॥१४९॥ पद्मपुराण

स परित्यज्य संवेगादाहारं सशरीरकम् ।
जीवितान्ते तनुं हित्वा दिविजोऽभून्महर्द्धिकः ॥१३५-पंचम पर्व॥

उसने संसार से भयभीत हो आहार त्याग शरीर से ममत्व छोड़ दिया। आयुके अन्त में शरीर छोड़कर वह अजगर महान् ऋद्धिधारी देव हुआ।

संपूर्ण प्रथमानुयोग ऐसे उज्वल अनेक उदाहरणों से अलंकृत है, जिनसे संयम, त्याग तथा सदाचार की ओर विवेकी मानव का मन आकर्षित हुए बिना नहीं रहता। अतएव तत्वज्ञान के प्रेमी का कर्तव्य है कि वह अध्यात्मशास्त्र के एकान्त आग्रह के स्थान में व्यवस्थित रूप से अनेकान्त दृष्टिको प्रस्फुटित करने वाले विविध ग्रंथों का सम्यक् मनन तथा अभ्यास करे। इससे अध्ययन के क्षेत्र में कूप-मंडूक समान संकीर्ण दृष्टि स्वयं दूर हो जाती है। उस समय स्याद्वाद रत्नाकर की असली महिमा हृदय में अंकित होती है। एकान्त पक्षों से मन हटकर पवित्र जिनागम का अवगाहन करने में ही परितृप्ति को प्राप्त करता है।

बुद्धिमान का कर्तव्य—

आत्म हितार्थ सर्व साधारण का ध्यान बंध के कारणों पर विशेष रूप से जाना चाहिये। करणानुयोग हमें बताता है कि कर्मभूमि के मनुष्य आगामी भव के योग्य आयुकर्म का बंध, भुज्यमान आयु के एक तृतीयांश शेष रहने पर प्रथम अंतर्मुहूर्त में होने वाले उज्वल या संक्लिष्ट परिणामों के अनुसार, होता है। यदि प्रथमवार बंध नहीं हो सका, तो दूसरी बार होगा। इस प्रकार आठ प्रसंग आते हैं। यदि आठ-प्रसंगों में भी बंध न हो सका, तो अन्त में मरणकाल में आगामी भव की आयु का बंध होता है। किस व्यक्ति की कितनी आयु शेष है, तथा कब शेष तृतीयांश का प्रथम अंतर्मुहूर्त काल आता है, इसका ज्ञान नहीं होने से प्रत्येक विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य है कि सदा अपने भावों की सम्हाल रखे। यदि प्रमादवश मलिन भावों के होते हुए नरकादि सम्बन्धी आयु का बंध हो गया, तो स्थिति में न्यूनाधिकता भले ही हो जाय, किन्तु उस आयु का फल भोगना ही पड़ेगा। आज मानव थोड़ा सा कष्ट सहनकर व्रतादि पालन करने से डरता है। भव्य,

अभक्ष्य का विवेक नहीं रखता। व्रत, उपवास नहीं कर सकता है। वही जीव यदि नरक में जाता है, तो विवश हो अपार क्षुधा, तृषादि की वेदना सागरों पर्यन्त सहन करता है। अतः बुद्धिमान का कर्तव्य है कि पहले से ही सावधान हो जावे।

सूत्रकारकी चेतावनी—

आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में बंध के विषय में बड़े उपयोगी सूत्र लिखे हैं। उनकी ओर ध्यान जाना जरूरी है। सम्यक्त्व की चिंता में दुर्बल दिखने वाले, किन्तु साधुओं की निन्दा में संलग्न रहने वाले इस यांत्रिक अणुयुग के कृत्रिम तत्वज्ञानियों को दर्शन मोहनीय के बंध को बताने वाले सूत्र को ध्यान में रखना चाहिए। सर्व साधारण को भी यह बात स्मरण रखना चाहिए कि "केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य" केवली, जिनागम, मुनिसंघ, केवली प्रणीत धर्म तथा पुण्य का फल-अनुभव करने वाले देवों का अवर्णवाद करने से अर्थात् उनमें झूठे दोषारोपण करने से दर्शन-मोहनीय का आस्रव होता है। इस दर्शनमोह के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। साधु-निन्दा आदि विपरीत कार्यों में संलग्न रहने वाले व्यक्ति की सम्यक्त्व प्राप्ति की भावना ऐसी ही है, जैसे कालकूट विषपान के उपरान्त दीर्घ जीवन की भावना करना है। जो सम्यक्त्व के लिए हृदय से उत्कंठित है, उसे दर्शन-मोह कर्म के बंधक कारणों से दूर रहना चाहिए।

जब लोग इस मनुष्य पर्याय में थोड़े से कष्ट नहीं सहन करना चाहते, तो नरक के अपार दुःखों को कौन भोगना चाहेगा? अतः "बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः" बहुत आरंभ तथा बहुत परिग्रह द्वारा यह जीव नरकायु का बंध करता है, यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है। आज का व्यक्ति हिंसा में आनंद मानता है; परिग्रह की वृद्धि में आनंद मानता है। अपार धन-वैभव संचयके हेतु वह अमर्यादित हिंसा के साधनों को जुटाता है। ऐसे व्यक्ति का ध्यान उपरोक्त प्रकाश-स्तंभ सदृश सूत्र की ओर जाना आवश्यक है।

आज के राजनैतिक वातावरण में छल, कपट, माया का आश्रय बुद्धिमत्ता तथा लोक दक्षता के चिन्ह माने जाते हैं। सार्वजनिक जीवन में विरले लोग मिलेंगे, जो सत्य और सरल व्यवहार करने के

अभ्यासी हों। जीवन की अन्य प्रवृत्तियों में भी कपट भाव का बोल बाला नजर आता है। उनके हितार्थ सूत्रकार चेतावनी देते हुए कहते हैं "माया तैर्यग्योनस्य" कपट वृत्ति के द्वारा जीव पशु योनि को प्राप्त करता है। अल्प आरंभ तथा परिग्रह वाला संतोषी जीव मनुष्यायु का बंध करता है। कहा भी है "अल्पारंभ-परिग्रहत्वं मानुषस्य"।

आज यांत्रिक विज्ञान की सहायता से विषय-भोग की सामग्री में असर्यादित वृद्धि हुई है, फिर भी दुःख की मात्रा न्यून नहीं हो पाई है। अपने पूर्वजों के जीवन काल की परिस्थिति के साथ तुलना करने पर पता चलेगा, कि आज का मानव-हृदय यथार्थ में कम सुखी है। वैभव वाला भी सुदारुण अंतर्ज्वाला से दग्ध होता रहता है। जीव हिंसा में सभी राष्ट्र लग रहे है। धर्मभूमि भारत भी स्वतंत्र होने के पश्चात् जीव-वध के क्षेत्र में शोचनीय स्वच्छन्दता का प्रदर्शन कर रहा है। इससे अनेक उपद्रवों, उत्पातों आदि के कारण जनता दुःखी हो रही है। सूत्रकार कहते है "दुःख-शोक-तापाक्रंदन-वध-परिदेव-नान्यात्म-परोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य"—स्वयंको, अन्यको अथवा दोनों को दुःख देने से असातावेदनीय का आस्रव होता है। इसी प्रकार शोक संताप, आक्रंदन (रोदन) तथा परिदेवन द्वारा उक्त कर्म बंधता है। इस सम्बन्ध का विशेष विवेचन आगम से ज्ञात करना चाहिए।

स्याद्वाद दृष्टि—

जो यह कहते हैं कि हमारी आत्मा बंधन रहित है। हम शुद्ध हैं। सिद्ध समान हैं वे शक्ति या द्रव्य की अपेक्षा उक्त बात कह सकते हैं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा हमारी अवस्था दीन, हीन ही है। यदि आत्मा कर्मों के आधीन नहीं है, तो वह मल, मूत्र, हड्डी, रुधिरादि अपवित्रतम सामग्री से परिपूर्ण इस शरीर में क्यों निवास करता है ?

यदि शंकाकार पर्याय दृष्टि से सिद्ध समान है, तो वह अपने घर सिद्धालय में क्यों नहीं रहता, जहां अनंतानंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं। इसलिए एकान्तबाद के कुचक्र से बचकर अनेकांत दृष्टि के प्रकाश में सत्य-तत्व को शिरोधार्य करना चाहिए।

एक प्रश्न !

कोई शंकाकार कहता है सम्यग्दर्शन के होने से कुगति का उच्छेद होता है। सर्वप्रकार की समृद्धि प्राप्त होती है, अतः सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए ही हमें विशेष ध्यान देना चाहिए। चारित्र की चर्चा व्यर्थ है, कारण एक सम्यक्त्व की ज्योति जगने पर सर्व आवश्यकताएँ अपने आप पूर्ण हो जाती हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व में यह जानना आवश्यक है कि उस सम्यक्त्व को प्राप्त करने की शक्ति तो प्रत्येक भव्य में है, किन्तु इस हुँडावसर्पिणी नामके दुषमा काल में उस सम्यक्त्व निधि को प्राप्त करने वाले व्यक्ति अंगुलियों पर गिनने लायक होंगे, ऐसा आगम का वाक्य है। ऐसी स्थिति में उन थोड़े से व्यक्तियों को छोड़कर जिनेन्द्र भगवान के शासनको मानने वाले शेष व्यक्तियोंको क्या करना चाहिए, जिससे अवश्य आनेवाली मृत्यु के पश्चात् यह जीव विपत्ति के सिन्धु में न डूबे और उसे सुख की उपलब्धि होवे।

उपयोगी दृष्टान्त

इस विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह दृष्टान्त उपयोगी होगा। मानलो, भारतवर्ष से कोई डाकगाड़ी शीघ्र ही सीधी मुक्तिपुरी को पहुँचाती है। एक पैसेन्जर गाड़ी भी है, जो कई जगह ठहरती हुई जाती है। डाकगाड़ी में यहां से बैठने के लिए पांच, सात व्यक्तियों के लिए ही स्थान है, ऐसी स्थिति में सामान्यतया समझदारी इसमें है कि डाकगाड़ी में स्थान प्राप्ति हेतु उद्योग करते हुए भी उस पर पूर्ण निर्भर न रहे और इससे उसके लिए यह उचित होगा, कि वह पैसेन्जर गाड़ी में बैठने की तैयारी से न चूके। इसी प्रकार मोक्षप्राप्ति का शीघ्रतम श्रेष्ठ साधन सम्यक्त्व की उपलब्धि है, किन्तु उनकी अत्यन्त अल्प संख्या सर्वज्ञ भगवान ने बतादी है। अतएव उस पर ही निर्भर रहकर अकर्मण्यता पूर्वक मरण करना पश्चात्तापप्रद होगा।

ऐसी स्थितिमें मोक्षपुरी जाने के लिए व्यवहार सम्यक्त्व, चारित्र रूप पैसेन्जरगाड़ी में बैठना बुरा नहीं है। इस पैसेन्जर गाड़ी में बैठनेवाला दुःखमा और दुःखमा-दुखमा नाम के दुःखपूर्ण कालचक्रों

से तो बचेगा। अतएव सर्वलोगों के कल्याणार्थ यही उपदेश उपयोगी होगा, कि पंचपरमेष्ठी के प्रति प्रगाढ़ भक्ति रखते हुए श्रावक के मूलगुणों का पालन किया जाय। तत्वज्ञ-पुरुष संयम विषयक शास्त्रों को अमृत-कुंभ समझकर उनका मनन करता है, तथा हृदय से आकांक्षा करता है, कि जीवन में वह धन्य दिन कब आयगा, जब सकलसंयमी की दिगम्बर मुद्रा को धारण करेगा? रत्नकरंडश्रावकाचार, सागार धर्मामृत, पुरुषार्थसिध्युपाय सदृश ग्रंथों के अभ्यास द्वारा मोही मानव को आत्मसुधार के लिए महान प्रकाश प्राप्त होता है। आज जो सस्ता सम्यक्त्व समाज के पास आया है, उससे कई लोगों में बहुत विकारी परिणमन हो गया है। सूर्य के दर्शन होने के पूर्व जैसे अंधकार भागता है, उसी प्रकार ये कृत्रिम सम्यक्त्वी संयमी का नाम सुनते ही दूर हटते हैं। उनका प्रत्यक्ष परिचय पाने का भी कष्ट नहीं करते। इसका अंतरंग रहस्य यह है, कि ये अपने को और अपने सीमित साथियों को ही धर्मज्ञ मान दूसरों को मिथ्यात्वी समझते हैं। इस अहंकार के पर्वत पर ये अपनी कल्पना का महल बनाकर अपना तथा दूसरों का विनाश करते हैं। इन्हें प्रहरी की यह चेतावनी सुनना चाहिए :—

'मुसाफिर! क्यों पड़ा सोता, भरोसा है न इक पलका'।

आशाधरजी ने लिखा है, गृहस्थ का कर्तव्य है :—

ब्राह्मे मुहूर्तमुत्थाय वृत्त-पंच-नमस्कृतिः।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत्॥ ६—१॥ सा. ध.

सूर्योदय के पूर्व ब्राह्म मुहूर्त में जगकर पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करे, तत्पश्चात् यह चिंतवन करे कि मैं कौन हूँ अर्थात् मैं चैतन्य पुंज आत्मा हूँ, शरीरादि स्वरूप मैं नहीं हूँ। मेरा क्या कर्तव्य है? मेरे क्या व्रत नियम हैं? मुमुक्षु मानव को कूप मंडूक भाव छोड़ इस ३४३ राजू घनाकार तथा मनुष्याकार धारण करनेवाले विशाल लोक का चिंतन करना चाहिए। इस शरीर में आसक्ति होने से ही मनुष्य पाप प्रवृत्तियों में फसता है, संयम से दूर भागता है। अतः काय का स्वरूप भी चिंतन-योग्य है। वैराग्य-ज्योति अलंकृत महाराज जीवंधर श्रमण दीक्षा लेने के पूर्व शरीर के विषय में यह सोचते थे, यदि कदाचित् दैववश शरीर के भीतर का भाग बाहर आ जावे, तो उसके द्वारा भोग भोगने की इच्छा की तो बात दूसरी है, उसे कोई देखना भी न

चाहेगा। इसी कारण तत्वार्थसूत्रकार कहते हैं, "जगत् कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् अर्थात् संवेग और वैराग्य के लिए जगत् और शरीर के स्वभाव का चिंतवन करना चाहिए।

सम्यक्त्वी का चिह्न—

सम्यक्त्वी का चिह्न वैराग्य कहा गया है। जो मूढ़ मानव राग रंग में डूबा हो, विषय-विष का गर्वकर पान करता हो, उसे कौन तत्वज्ञानी मानेगा ? वास्तव में आगम की दृष्टि में वह आत्मा अज्ञानी है। क्षत्रचूड़ामणि का यह कथन कितना वास्तविक है :—

तत्वज्ञानं च मोघं स्यात् तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम् ।
पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम् ॥ ४५—२ ॥

विरुद्ध आचरण करने वालो के तत्वज्ञान व्यर्थ ही है। कूप में गिरनेवाले के हाथ में दीपक धारण करने का क्या प्रयोजन है ?" संसार के सभी संप्रदाय के विचारक यह बात कहा करते हैं, कि जिस उच्च वाणी या विचारधारा का प्रतिबिम्ब यदि जीवन में नहीं उतरा तो वह कथन मक्कारी ही है। अहिंसा की बात करने वाला व्याघ्र यदि जीव घात करता चला जाता है, शील का गौरव गाती हुई कोई स्त्री वेश्यावृत्ति को नहीं छोड़ती है, सत्य की गुणगाथा गाता हुआ कोई छल, प्रपंच तथा प्रतारणा में संलग्न रहता है, तो इससे धर्म को क्षति पहुँचती है; अधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ती है। आत्म-धर्म की चर्चा करने वालों को अपने नैतिक जीवन के स्तर को उच्च रखने की ओर विशेष सावधान रहना चाहिए। उन्हें सोचना चाहिए कि मेरा जीवन पशुओं की श्रेणी लायक है या पुरुषार्थी एवं विवेकी मानव के योग्य है। कवि कहता है—

कर्तव्य

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति ॥

पुरुष का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन यह देखे, कि मेरा चरित्र पशुओं के तुल्य है या सत्पुरुषों के तुल्य है। आहार, मैथुन, भय, निद्रा ये चार बातें पुरुषों में भी पाई जाती हैं, जैसी पशुओं में

पाई जाई जाती हैं। जिस व्यक्ति का दिन खाने में, सोने में, धन की कमाई करने में, विषयसेवनादि प्रवृत्ति में गया, वह स्वयं विचार करे कि मेरा आज का दिन सत्य की भाषा में पशुतुल्य व्यतीत हुआ। शेक्सपियर ने अपने नाटक हेमलेट में प्रधान पात्र हेमलेट के द्वारा उपरोक्त विचारों के समर्थक निम्न लिखित उद्गार प्रकाशित किए हैं।

What is a man
If his chief good and market of time
Is but to sleep and feed.
A beast no more.

मानव किसे माना जाय, यदि उसका समस्त समय खानपान तथा निद्रा में बीतता है; उसे तो पशु ही कहना होगा, मनुष्य नहीं।

बक-वृत्ति

आज तत्वज्ञान, आत्मविद्या, निश्चय दृष्टि आदि का कथन करने वाला जीव हंस का नाम रखा बकराज के मार्ग का अनुकरण करता है, तो उससे न व्यक्ति का भला है और न उसके अनुयायियों का ही कल्याण होगा। संयम कहो, व्रत कहो या सदाचार कहो, इसका विरोध करनेवाला स्वयं सज्जनता के विरुद्ध काम करता है। सदाचारी, व्रती अथवा संयमी का निरादर करना तथा भोले लोगों में यह भ्रम फैलाना, कि इस काल में संयमी नहीं होते, सरासर अपने को ही सर्वज्ञ का उत्तराधिकारी मान भगवान के कथन विरुद्ध प्रतिपादन करना है।

मुनियों का सद्भाव—

तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार सदृश अत्यन्त मान्य आगम में कहा है कि पंचमकाल के अंत तक दिगम्बर मुनि पाए जाएँगे। तिलोयपण्णत्ति में तो यह अपूर्व बात लिखो है कि वीर निर्वाण के हजार वर्ष बाद कल्की रूप दुष्ट राजा के कोप के पात्र जो मुनि होंगे, उनके अवधिज्ञान पाया जायगा। इसके पश्चात् हजार-हजार वर्ष बाद बीस कल्की और होंगे, जिनके समय में अवधि ज्ञान को धारण करने वाले दिगम्बर मुनिराज होंगे। दुषमाकाल के अंत में होने वाले मुनि-

राज का नाम वीरांगज तथा आर्यिका का सर्व श्री होगा अग्निदत्त श्रावक तथा पंगुश्री श्राविका का नाम भी कहा गया है।

कल्की राजा नीचता की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर अपने मंत्री से कहता है "वह अहिंसाव्रत का धारी पापी मुनि कहां जाता है? तुम सर्व प्रकार से पता लगाओ। उस आत्मघाती मुनि के ('अप्पघादिस्स) प्रथम पिण्ड को शुल्क रूप में ग्रहण करो। पश्चात् कल्की के आदेशानुसार प्रथम पिंड के मांगे जाने पर मुनीन्द्र तुरन्त उसे देकर और अंतराय करकें वापस चले जाते हैं तथा अवधिज्ञान को भी प्राप्त करते हैं" (पावेदि ओहिणाणंपि)— तिलोयपण्णत्ति, भाग १—पृष्ठ ३४४ अध्याय ४ ॥

आगे यह महत्व पूर्ण कथन आया है, उस समय वे मुनीन्द्र अग्निदत्त श्रावक, पंगुश्री श्राविका तथा सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर प्रसन्नचित्त होते हुए कहते हैं कि अब दुषमाकाल का अन्त आ चुका है। तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अंतिम कल्की है। तब वे चारों जन चार प्रकार के आहार और परिग्रहादिक को जन्मपर्यन्त छोड़कर सन्यास को ग्रहण करते हैं।

वे सब कार्तिक मास के कृष्णपक्ष के अंत में अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र ऊपर उदित रहने पर सन्यास को करके समाधिमरण को प्राप्त करते हैं। उसी दिन मध्याह्नकाल में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार जाति का उत्तमदेव (असुर-वरदेओं) कल्की राजा को मारता है और सूर्यास्त में अग्नि नष्ट होती है" (पृष्ठ ३४५ ति० प०)।

अनुचित कल्पना—

कभी-कभी यह कह दिया जाता है कि इस क्षेत्र में मुनि नहीं होते, दूसरी जगह हो सकते हैं। यह कथन उचित नहीं है। जहां श्रावक की लाखों संख्या हो, जहां शिखरजी पावापुरी आदि निर्वाण क्षेत्र हों, वह भारतदेश यदि मुनियों के योग्य न होगा, तो क्या अमेरिका, रूस आदि देश उनके योग्य होंगे, जहां न उच्च सदाचार है, न अहिंसाधर्म है। जहां जीववध, मद्यसेवन, रात्रिभोजन हो, पर-स्त्री, स्वस्त्री का विवेक न हो; हीनाचार हों, वहां मुनि कैसे होंगे, और उनको शुद्ध

आहार कौन देगा? इत्यादि बातों को सोचकर यह कथन स्वीकार करना होगा, कि इसी देश में पंचसकाल के अंत तक दिगम्बर मुनियों की परंपरा चलेगी।

किसी व्यक्ति की मुनि विशेष के प्रति प्रतिकूलता समझ में आती है, किन्तु यह विरोध जब दिगम्बर मुनिमात्र के प्रति केन्द्रित हो जाता है, तब यह जानना चाहिए, कि उस व्यक्ति में सम्यक्त्व का लेश भी शेष नहीं है। वह आगम की आज्ञा का तिरस्कार करने वाला है। आगम मुनियों का सद्भाव कहलाता है और ये अपने को सम्यक्त्वी मानने वाले कहते हैं, मुनिराज ही नहीं होंगे।

आज के मुनिद्रोही वर्ग का नेतृत्व करने वाले अनेक लोगों का अद्भुत रूप देखा जाता है। जिस दिगम्बर मुनि के जीवन से इनका तनिक भी परिचय नहीं हुआ है, उस जिनमुद्राधारी सत्पुरुष का निकट से प्रत्यक्ष परिचय तो प्राप्त करना चाहिए। ऐसा न कर दूसरों की बातों को सुनकर ये मूर्तिमान अपनी भ्रान्त धारणा बना लिया करते है। जिन साधुराज चारित्रचक्रवर्ती महाज्ञानी, परम श्रद्धालु एवं आगमभक्त १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज ने छत्तीस दिन पर्यन्त सल्लेखना तप द्वारासंसार में दिगम्बर जैन गुरु की प्रतिष्ठा वृद्धिगंत की और संसार को विस्मित कर दिया, कि आगम की आज्ञा पालन के हेतु ही उनने अहारत्याग किया था, उनका जीवन भी इन कृत्रिम सम्यक्त्वियों को उतना प्रिय नहीं लगता, जितना कि अव्रती अवस्था वाले गृहस्थ विशेष का। ये गृहस्थों को सद्गुरु कहते हैं। उनकी मुनियों से भी अधिक भक्ति करते हैं। परिग्रहधारी को गुरु मानना आगम में सम्यक्त्वी का लक्षण नहीं माना गया है। फिर भी ये वस्त्राधारी प्रति-सारूप आचरण शून्य गृहस्थ को परमगुरु मानकर पूजते हैं। दिगम्बर मुनिराज या अन्य उच्च त्यागी साधु को देखकर इनके नेत्र रक्तवर्ण हो जाते हैं। आगम से परिचित व्यक्ति शांत भाव से सोचे, कि क्या ऐसा ही सम्यक्त्व का स्वरूप कहा गया है? ऐसे लोगों का समर्थन करने वाले कुछ विद्वानों को भी देखकर आश्चर्य की सीमा नहीं रहती है। यदि किसी साधु में इनने कुछ अपूर्णता देखी, तो स्थितीकरण, वात्सल्यभाव को भूलकर ये अस्थितिकरण तथा अवात्सल्य का प्रदर्शन करते हैं। सार्वजनिक पत्रों में दिगम्बर मुनिमात्र के अगौरव को प्रकाश में लाकर कुछ कषायाविष्ट भाई अपने ही पैरों पर कुठाराघात करते हैं।

परीक्षकता का अभिनय

कोई व्यक्ति कहता है कि बिना साधु की परीक्षा किए हम कैसे उनको प्रणाम करके अपने सम्यक्त्व को दूषित करें? ऐसा ही प्रश्न एक भाई ने मुझ से किया था। मैंने कहा "बड़ी प्रसन्नता की बात है, कि आप अलौकिक सम्यक्त्व रत्न से सुशोभित हैं। आपके पास केवल-ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा परमावधि, सर्वावधिज्ञान नहीं हैं, अतः आप इन मुनियों के सम्यक्त्वाभाव का निश्चय नहीं कर सकते हैं। यदि वे अपने मूल गुणों का पालन करते हैं, तो उनका आदर करना आपका कर्तव्य है। जिन-मुद्रा का आदर करना हमारा कर्तव्य है। मुनियों में भी पुलाकादिभेद होते हैं। कभी २ मूलगुण में भी विराधना होती है, उत्तरगुण की पूर्णता तो अयोगकेवल गुणस्थान में होती है। आज मूलाचारादि शास्त्रों से अपरिचित व्यक्ति भी यद्वा तद्वा आक्षेप करने लगते हैं।

साधु-निंदा का व्यवसाय

एक बात और महत्वपूर्ण है। जैसे साहूकार किसी ऋण लेने वाले के लेन देन का बहीखाता लिखता है, ऐसे ही मुनि-निन्दा का धन्धा करने वाला आठ दस वर्ष से भी पुराने सुने गए दोषों का उन साधुओं को आज भी अपराधी मानता है। हमें यह जानना चाहिये, कि प्रमाद तथा कषाय से असत् प्रवृत्तियें सदा होती ही हैं, जिनके प्रक्षालनार्थ साधुजन इस काल में सदा सजग हो प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित करते हैं। आचार्य प्रायश्चित देकर उनको ऐसा ही निर्मल बनाते हैं, जैसे धोबी मलिन वस्त्र को निर्मल करता है। मलिन वस्त्र के स्वच्छ बनने पर उसे कोई भी मलिन नहीं कहता है, इसी प्रकार आत्मशुद्धि में सजग रहनेवाले निर्ग्रन्थ गुरुओं के विषय में सोचना चाहिए।

एक धर्मात्मा सज्जन ने कहा था 'आप पंडित लोग तो पंचम काल के श्रावकों का भी व्रताचरण करने से दूर हटते हो और साधुओं को चतुर्थकाल के संहननयुक्त सोचकर उनको परिपूर्ण देखना चाहते हो।' कभी कभी ऐसा होता है कि आचार्य किसी साधु की अयोग्य प्रवृत्ति को देख दीक्षा तक का छेद करते हैं और पुनः दीक्षा देते हैं। हमारे साधु विरोधी भाई महान् दण्ड प्राप्त उन मुनि के पूर्व दोष को आज भी स्मरण रखते हैं और पत्रों आदि में चर्चा चला सार्वजनिक

अपवाद से नहीं चूकते। कोई व्यक्ति न्यायालय द्वारा दण्ड प्राप्त करने के पश्चात् पुनः उस अपराध के लिए दण्डित नहीं किया जाता, किन्तु हमारे भाई स्वयं हीन दर्जे के होते हुए भी पूज्य-पदारूढ गुरुओं के प्रति अपने आक्षेप को बद नहीं करते हैं। ऐसी अद्भुत स्थितिमें भी महान ज्ञानी पडित रत्न आशाधरजी एक अपूर्व मार्ग प्रदर्शन करते हैं।

प्रशस्त सुझाव

> विन्यस्यैदं युगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव
> भक्त्या पूर्व-मुनीनर्चेत् कुत. श्रेयोतिचर्चिनाम् ॥ ६४ – २ सं ॥

जिस प्रकार अचेतन मूर्ति में जिनेन्द्र भगवान की स्थापना करके पूजा की जाती है, इसी प्रकार वर्तमान युग के मुनियों में पूर्व कालीन मुनियो की स्थापना करके पूजा करे। अधिक खोद विनोद करने में कल्याण नहीं है। (सा. ध.)

हमारी दृष्टि

हमारे कथन से कोई यह सोचने लगे, कि हम मुनियों के एवं त्यागियो के शिथिलाचार के समर्थक हैं, तो हमारे प्रति अन्याय होगा। आगम-विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले चाहे श्रावक हों, चाहे साधु हों, उनको हम समालोचना का पात्र मानते हैं। हमारी यह दृष्टि है कि उनकी दोष शुद्धि का कार्य साधारण जनता के समक्ष न हो। इससे उनके कषायभाव जग जाता है और फिर सामोपाय नहीं चल पाता है। हमें अनेक संयमी पुरुष मिलते हैं। विनय पूर्वक आगम दिखाकर उनका कर्तव्य सुझाने पर वे प्रेम से परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। यह कथन बहुसख्या के आधार पर किया गया है। कोई ऐसे भी होते हैं, उनकी जितनी दवा करो, उतना ही उनका जीवन विपरीत मार्ग का आश्रय ग्रहण करता है। उनके विषय में हमें निर्णय न कर अन्य संयम-विशेषज्ञ विशेष-ज्ञानी मुनियों आदि से चर्चा तथा ऊहापोहकर कार्य करना चाहिए। आज के पापाचरण के युगमें उन पुरुषों को तथा स्त्रियों को शतशः प्रणाम है, जो आत्म-सामर्थ्य को जगाकर महान व्रतों को पालन करते हैं। हमारा धर्म है कि उनके मार्ग में कण्टक न बनकर शक्तिभर उनके पवित्र कार्य में सहायता दें। गाली देने से साधुका स्थितीकरण नहीं होता। उसका उपाय योग्य अनुनय, विनयादिपूर्वक

उन्हें समझाना है।

कि आगम के विरुद्ध आचरण करने वाला साधु निगोद तक जाता है। उस साधु को परिग्रहादि देकर पापको प्रेरणा देने वाला श्रावक भी कुगति का पात्र होता है। माता जिस पद्धति द्वारा अपने प्राणप्रिय कुलदीपक पुत्र का रक्षण करती है, उसी पद्धति का आश्रय श्रावकों को भी लेना चाहिए। स्थितीकरण का काम बहुत गम्भीर है। शान्त परिणामी चतुर व्यक्ति ही उस प्रकार की आंतरिक चिकित्सा में सफल हो सकता है। जो गृहस्थ लड़ाकू हो, सर्वत्र अपनी झगडेलू आदतों के लिए सुप्रसिद्ध हो, वह साधुओं का इलाज करने की कृपा न करे। उससे काम बिगड़ेगा, बनेगा नहीं। पं० आशाधरजी के अनमोल शब्द हमें ध्यान में रखना चाहिए; कारण हजारों पंडितों और लाखों श्रावकों द्वारा जो प्रभावना नहीं होती, लोगों का कल्याण नहीं होता, वह एक सच्चे निर्ग्रन्थ द्वारा होता है। इसके लिए स्वर्गीय आचार्य शांतिसागर महाराज का मंगल-जीवन उदाहरण रूप है। अतएव मुनिका सद्भाव मोक्षमार्ग की दृष्टि से अनमोल निधि है। सागार धर्मामृत में लिखा है :—

जिनधर्म जगद्बंधुमनुबद्धुमपत्यवत्।
यतीन् जनयितुं यस्येत्, तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥७१—२ सर्ग॥

जगत् के बंधु जैनधर्म की परम्परा चलाने के लिए सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह मुनियो को उत्पन्न करने के लिए उद्योग करे, जैसे वह अपने वंश की परम्परा के रक्षण हेतु पुत्रको उत्पन्न करता है। तथैव सद्गृहस्थ विद्यमान साधुओं में गुण संवर्धन के हेतु भी प्रयत्न करता है।

इस प्रकार के कर्तव्य की ओर लोगों का ध्यान इसलिए नहीं जाता, कि लोग प्रायः श्रावकाचारों के निरुपक शास्त्रों को नहीं पढ़ते, किन्तु समालोचना करने में जरा भी संकोच नहीं करते। आशा है हमारे सहृदय बन्धु जीवन को क्षणस्थायी सोचकर वैर विरोध बढ़ाने वाली पद्धति का परित्यागकर धर्म रक्षण तथा सम्वर्धन का कार्य करेंगे।

मार्ग-दर्शन

सुचतुर विद्वान् महान असंयमी को भी संयम तथा व्रताचरण के लिए उत्साह प्रदानार्थ बड़ी सुन्दर बात कहते हैं :—

यावन्न सेव्याः विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितः ।
व्रतयेत् सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥ ७७-२ ॥ सागारधर्मामृत.

जब तक विषय-भोग की सामग्री तुम्हारे भोगने में नहीं आती है, तब तक पुनः प्रवृति पर्यन्त उनका त्याग कर दो। कदाचित व्रतसहित मरण हो गया, तो व्रतपूर्वक मरण होने से परलोक में सुख प्राप्त होगा।

धीरे धीरे व्रत का अभ्यास पड़ने पर मुमुक्षु को विषय-त्याग में रस आने लगता है और वह संयम के क्षेत्र में उन्नतिशील हो जाता है। अनेक व्यक्तियों ने हमें बताया, कि वे पहले असंयम-मूर्ति थे । उनको आचार्य शांतिसागर महाराज का अपूर्व संपर्क मिला । पारस के स्पर्श से जैसे लोहा सुवर्ण रूपता धारण करता है, उसी प्रकार उन लोगों ने धीरे २; किन्हीं ने शीघ्र ही, जिनरूपता धारण की । कुछ साधुओं ने बताया, " जब १६२८ में आचार्य महाराज का संघ शिखर जी गया था, तब हम आचार्य महाराज का कमण्डलु रखकर उनके साथ चलते थे, पश्चात् महाराज की कृपा से पीछी, कमण्डलु दोनों प्राप्त हो गए। " सद्धर्म से अत्यन्त अपरिचित सातों व्यसनों में निपुण तथा आठवें व्यसन के कारण नाटकी कहे जाने वाले रामचन्द्र गोकाककर ने आचार्य पाय सागर महाराज के रूप में जीवन परिवर्तन कर अपना अपूर्व उद्धार किया; तथा हजारों, लाखों लोगो के हृदय में सच्चे धर्म की प्रतिष्ठा अंकित की। इस वर्ष उनका स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के कुछ क्षणपूर्व सबेरे ६ बजे के लगभग बड़े ध्यान से आचार्य पायसागर जी ने भक्तामर स्तोत्र सुना और कुछ क्षण आत्म चिंतनार्थ बैठे थे, कि शरीर से वह चैतन्य ज्योति परलोक को प्रयाण कर गई। उनका जीवन धन्य हो गया। उनने न जाने कितने जीवो का जीवन धन्य कर दिया। उनकी मृत्यु के पश्चात सैकड़ों गावों के हजारों अजैनों ने व्रत, उपवास किए। वे सब उन महा प्रभावक गुरु को अपना गुरु मानते थे। सप्तव्यसनी व्यक्ति सत्ससागम द्वारा साधुराज बनकर स्वपर कल्याण करता है। इस कारण हमारा कर्तव्य है कि संत समागम के लिए प्रयत्न करें। एक कवि कहता है—

संगति कीजे साधु की हरै और की व्याधि।
ओछी संगति नीच की आठों पहर उपाधि ॥

आचार्य महाराज का अंतिम संदेश

आचार्य शांतिसागर महाराज कहा करते थे। "घबड़ाओ मत, डरो मत, संयम धारण करो। आत्मा का चितवन करो"। उनने सल्लेखना महातप के २६ वें दिन के प्रवचन में उपरोक्त सत्य को अत्यन्त मार्मिक भाषा में व्यक्त किया था, जो उनके शब्दों में रिकार्ड रूप में आज भी विद्यमान है। संयम का जन-साधारण की भाषा में यह अर्थ होता है, कि तुम इंद्रियों के गुलाम बनकर जो क्रूरता पूर्ण उच्छृङ्खल प्रवृत्ति करते हो, वह ठीक नहीं हैं। जीवन में जितना २ अहिंसा को स्थान दोगे, उतना २ तुम्हारा तथा दूसरों का जीवन सुखी होगा।

संयम का लक्ष्य

संयम का लक्ष्य है जीवन में अहिंसात्मक प्रवृत्ति को प्रतिष्ठित करना। श्रावकाचार के शास्त्रों का सूक्ष्म परिशीलन करने पर उपरोक्त सत्य स्पष्ट हो जायगा। असत् प्रवृत्ति के त्याग द्वारा जीव आत्मविकास के क्षेत्र में पदार्पण करता है। उसे ऐसा अवसर तथा साधन सामग्री प्राप्त होती हैं, जिनसे वह व्यवहार सम्यक्त्वी और व्यवहार चारित्रवान के स्थान में अनुकूल सामग्री को प्राप्त कर निश्चय रत्नत्रय का पात्र बनता है। घोड़े का अच्छा सवार बनने वाला व्यक्ति पहले साधारण घोड़े पर बैठता है, जिस घोड़े को घोड़ा मानने में भी संकोच होता है। वह उस पर से भी गिरता है, पश्चात् अभ्यास द्वारा वह अश्वराज को भी अपने वश में कर लेता है; इसी प्रकार अभ्यास और उद्योग द्वारा असंभव दिखने वाले काम भी शक्य और संभव बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में जीवन को विशुद्ध बनाने वाले अहिंसापूर्ण संयम के पथ में चलने से नहीं डरना चाहिए। कम से कम इतनी तो कृपा करनी चाहिए, कि जो संयम का पवित्र जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उनके ऊपर पत्थर तो न फेंके।

संयमी की बड़ी शक्ति होती है। वह जितना २ बड़ा अहिंसक होता है, उसकी सामर्थ्य उतनी-उतनी अधिक होती है। प्रथमानुयोग शास्त्र में अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि साधुओं पर अकारण अपवाद लगाने वालों तथा कोसने वालोंका कितना बुरा हाल होता है? इससे अपना भविष्य सोचते हुए सावधानी-पूर्वक कार्य करना उचित है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हृदयसे साधुतापूर्ण मनस्वी महात्मा को निंदा का भय नहीं रहता है। वे तो निंदकों को प्रेम से देखते हैं और सोचते हैं, कि ये भाई हमें सावधान करते रहते हैं, ताकि हम प्रमाद में निमग्न न हो जावे। कवि का यह कथन साधुओं के लिए महत्वपूर्ण हैः—

निंदक नियरे राखिये आंगन कुटी बनाय।
बिन साबुन पानी लिए निर्मल करे सुभाय॥

संयम से लाभ

संयम-पूर्ण जीवन के रास्ते से चलने वाले पुरुषार्थी प्राणी को असली सम्यक्त्व रत्न की भी प्राप्ति होती है। यदि व्रताचरण की उपयोगिता न होती, तो प्राथमिक स्थिति में सद्‌गुरुओं द्वारा पाप परित्याग का उपदेश क्यों दिया जाता ?

आध्यात्मिक दुकान

जिनेन्द्रदेव के उपदेश को दिव्यध्वनि द्वारा अवधारण कर ऐसा लगता है कि गणधर देवने जीवों के कल्याणार्थ एक आध्यात्मिक दुकान लगाई है; उसमें मोक्ष प्राप्ति के लिए साधनरूप सर्व प्रकार की सामग्री रखी गई है। जिस आत्मा का संसार निकट है, जिसका चित्त बलवान है, वह मन गुप्ति, वचन गुप्ति तथा काय गुप्ति के द्वारा अंतर्मुहूर्त के सिद्ध पदवी को प्राप्त कर लेता है। कोई सम्यक्त्व रूप रत्न लेता है, कोई रत्नत्रय को लेकर अपनी आत्मा को समलंकृत करता है। जिस आत्मा में अधिक सामर्थ्य नहीं है, वह अपनी हैसियत तथा पूंजी के अनुसार छोटी सी भी वस्तु लेता है। वह छोटी सी वस्तु है पाप प्रवृत्तियों का परित्याग। इसके सिवाय वह श्रावकों के षट् कर्मो का भी ध्यान रखता है, जिसमें देवपूजा - गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप तथा पात्रदान का समावेश है।

सदाचार का भाव

सदाचारी जीवन के लिए सदाचार बातों का ध्यान रहना चाहिए। सदाचार शब्द कहता है कि सदा इन चार बातों का पालन आवश्यक है :—

दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम्।
धर्मः चतुर्विधः सोयमाम्नातः गृहमेधिनाम्॥ महापु० १७८ पर्व ८

गृहस्थों के लिए दान, पूजा, शील एवं पर्व के दिनों में उपवास करना ये चार प्रकार का धर्म कहा कहा गया है। अरहंत, सिद्ध, साधु तथा केवली प्रणीत धर्म ये चार मंगलरूप, शरणरूप हैं। ये ही उत्तम हैं। ज्ञान की दृष्टि से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग रूप चतुर्विध आगम का आश्रय कल्याण कारी है। सदा इन चार चार बातों का ध्यान रखना गृहस्थ का सदाचार है। ध्यान की दृष्टि से आर्त तथा रौद्र ध्यान को छोड़कर पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ये चारभेद वाला धर्मध्यान अथवा आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय तथा संस्थान विचयरूप धर्मध्यान का अभ्यास करना चाहिए। चार आराधना भी निरन्तर आश्रयणीय हैं।

पुरुषार्थ की आवश्यक्ता

जिस प्रकार लौकिक कार्यों को भाग्य भरोसे न छोड़कर बुद्धि पूर्वक उद्योग किया जाता है, इसी प्रकार पारमार्थिक कार्यों के विषय में भी सावधानी तथा प्रयत्न आवश्यक है। यह सोचना कि सम्यक्त्व को प्राप्त करो, चारित्र तो अपने आप हो जायगा, अनुचित है। सम्यक्त्व होने के पश्चात् भी यदि चारित्रमोह का तीव्र उदय है, तो चारित्र नहीं होगा। क्षायिक सम्यक्त्वी श्रेणिक महाराज के चारित्रमोह का उदय रहने से किसी प्रकार का संयम बन नहीं सका। सम्यक्त्व के पश्चात स्वयमेव चरित्र की प्राप्ति होती है, यह कथन करणानुयोग के भी प्रतिकूल है। इस संबंध में उत्तरपुराण का यह कथन उपयोगी है। श्रेणिक राजा ने गौतम गणधर से कहा—

सर्वं निधाय तच्चित्तो श्रद्धाऽभून्महती मते।
जैने कुतस्तथापि स्यान्न मे व्रतपरिग्रहः ॥ ४३३-७४ प०

हे भगवन्! आपकी वाणी को सुनकर तथा सबको चित्तमें धारणकर जैनधर्म में मेरी बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई है, तथापि मैं क्यों नहीं व्रतों को ग्रहण कर रहा हूँ? गौतम स्वामी ने कहा :—

दुश्चरित्रान्महारंभात्संचित्यैनो निकाचितम्।
नारकं वद्धवानायुस्त्वं प्रागेवात्र जन्मनि ।४३५॥

वद्ध-देवायुषोन्यायु र्नांगी स्वीकुरुते व्रतम्।
श्रद्धानं तु समादत्तो तस्मात्त्वं नाग्रहीव्रतम् ॥ ४३६ ॥उ.पु.

हे श्रेणिक तूने इसी जन्म में दुष्ट आचरण, महा आरंभसे अनेक निकाचित बंध रूप महान् पापों का संचय किया है तथा नरक आयु का बंध किया है। देव आयु के बंध को छोड़कर अन्य आयु का बंध करने वाला व्रतों को धारण नहीं कर सकता। हां, वह सम्यग्दर्शन धारण कर सकता है, इसीलिए तू व्रत धारण नहीं कर सकता।"

रहस्य की बात—

इस कथानक से एक रहस्य की बात प्रगट होती है, कि जिस व्यक्ति ने कदाचित् श्रेणिक राजा के समान नरकायु का बंध कर लिया है, वह व्रती श्रावक नहीं बनेगा। अतएव जिस व्यक्ति का चित्त विषयों से विरक्त न होकर व्रतों से विरक्त हो, उसके देवायु के सिवाय अन्य आयु का बंध हो गया होगा, ऐसी भी आशंका निराधार नहीं मानी जा सकती। जिस व्यक्ति ने नरकायु का बंध कर लिया है, उसके परिणाम व्रतधारण के प्रतिकूल रहेंगे। सारांश यह है, कि सम्यक्त्व के पश्चात् अपने आप व्रत आ जायँगे, यह कथन भ्रान्ति मूलक है। पहले से महा व्रतादि का अभ्यास रहा है, तो सम्यक्त्व प्राप्तकर वह जीव सातवें गुणस्थान तक का आनंद ले सकता है, अन्यथा अंग शिथिल हो जाने पर क्या हो सकेगा? भूधरदास जी का यह कवित्त बड़ा मार्मिक है, जिसमें विषय लोलुपी प्राणी को सुयुक्ति पूर्वक त्याग के लिए प्रेरणा दी गई है—

जोलों देह तेरी काहू रोग सों न घेरी।
जोलों जरा नाह नेरी जासों पराधीन परिहै॥
जोलों जम नामा बैरी देय न दमामा।
जोलों माने कान रामा, बुद्धि जाय न बिगरि है॥
तौलों मित्र मेरे निज कारज संभार ले रे।
पौरुष थकेंगे फेर पाछे कहा करि है॥
अहो आग के लागे जब झोपड़ी जरन लागी।
कुआ के खुदाए कहो कहा काज सरि है॥

बंदर का मद्य-पान

विषयासक्त व्यक्ति को त्याग का उपदेश न दें, यदि उसके समक्ष त्याग की निन्दा की जाय, त्यागी की बुराई बताई जाय, तो वह भोगी प्राणी अपना अहित किए बिना न रहेगा। बन्दर स्वयमेव अतिशय चंचल रहता है। उसे शराब पिलादें, और बिच्छू से कटा दें,

तब उसकी चंचलता का क्या हाल रहेगा ? इसी प्रकार स्वयं विषय भोगों की ओर जगत् की प्रवृत्ति रहती ही है। पानी स्वयमेव नीचे धरातल पर बहा करता है। भोगी प्राणी को अध्यात्मशास्त्र की ओट में शिथिलाचार के लिए यदि प्रेरणा दी गई, तो यह कार्य अंधे के नेत्रों में धूल डालने सदृश अयोग्य तथा विनिंदित होगा।

सुबुद्धि रानी की सलाह

भैया भगवतीदास सुबुद्धिरानी के द्वारा चैतन्यराय को प्रेम पूर्वक समझाते हैं, कि अमूल्य मनुष्य भव को प्राप्त कर अपना अहित नहीं करना चाहिए। यह नर देह संयम धारण द्वारा अत्यन्त पूज्य बनती है। तिलोयपण्णत्ति में आचार्य, उपाध्याय तथा साधु के देह को मंगल रूप कहा है (सूरि-उवज्झाय-साहू-देहाणि हु दव्व-मंगलयं १-२०)। एक अंग्रेज कवि कहता है, If any thing is sacred, the hu; an body is sacred. "यदि कोई पवित्र पदार्थ है, तो वह मानव का शरीर ही है, जो पवित्र है।" इस मानव शरीर का उपयोग उच्च कार्यों के लिए है। "भैया" कहते हैं :—

"सुनो राय चिदानंद, कहो जु सुबुद्धिरानी,
कहै कहा बेर-बेर नैकु तोहि लाज है।
कैसी लाज ? कहो, कहां, हम कछु जानत न,
हमें इहां इंद्रिनिको विषै सुख राज है" ॥
इस पर सुबुद्धि मर्म-स्पर्शी बात कहती है:—
अरे मूढ, विषय सुख सेये तू अनंती बार।
अजहूं अघायो नांहि, कामी शिरताज है,
मानुष जन्म पाय, आरज सुखेत आय,
जो न चेतै, हंसराज! तेरो ही अकाज है ॥"

अपनी आत्मा को ही भूलने वाले जीव को ओजपूर्ण वाणी में कवि कहता है:—

कौन तुम ? कहां आए, कौने बौराए तुमहिं,
काके रस राचे, कछु सुध हूं धरतु हो।
तुम तो सयाने, पै सयान यह कौन कीन्हों
तीन लोक के नाथ है के दीन से फिरतु हो ॥

विमलनाथ भगवान के विचार

भगवान विमलनाथ तीर्थंकर तीन ज्ञानों के स्वामी थे। उनका शरीर अपरिमित शक्ति संपन्न था। पुण्योदय से सर्वप्रकार की अपूर्व सामग्री थी। फिर भी उनके मन में भोगों से विरक्ति उत्पन्न हुई और वे गंभीर विचारों में निमग्न हो गए। गुणभद्र स्वामी इस विषय में उत्तरपुराण में लिखते हैं; " जब तक संसार की अवधि है, तब तक इन उत्तम तीन ज्ञानों से क्या काम निकलता है, और इस वीर्य से भी क्या लाभ है, यदि मैंने श्रेष्ठ विकास अर्थात्, मोक्ष को नहीं प्राप्त किया"।

चारित्रस्य न गंधोपि प्रत्याख्यानोदयो यतः ।
वंधश्चतुर्विधोप्यास्ति वहुमोहपरिग्रहः ॥ ३५ ॥
प्रमादाः संति सर्वेपि निर्जराप्यल्पिकेव सा ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं माद्याम्यहमिहैव हि ॥ ३६-सर्ग ५९ ॥

"प्रत्याख्यानावरण कपायोदयवश मेरे चारित्र की गंध तक नहीं है तथा वहुत मोह एवं परिग्रह जनित चारों प्रकार का वंध हो रहा है। मेरे सभी प्रमाद विद्यमान हैं। निर्जरा भी वहुत थोड़ी है। अहो ! यह मोह का माहात्म्य है कि जिसके कारण मैं (तीर्थंकर होते हुए भी) इस संसार में ही वैठा हूँ।"

वे भगवान यह भी विचारते हैं; " मेरा साहस भी तो देखो। सर्प के फणा के समान इन भोगो को मैं अव तक भोग रहा हूँ। मुझे पुण्य कर्म के उदय से विपुल सामग्री प्राप्त हुई है। जव तक मैं कर्मों का नाश न करूंगा, तव तक मुझे अनंत सुख कैसे मिलेगा ? "

प्रभु विमलनाथ के पूर्वोक्त विमल विचारों के द्वारा प्रत्येक मुमुक्षु के मन में संयम भाव का आदर तथा उसके प्रति पिपासा उत्पन्न हुए विना न रहेगी। अधिक भोजन करने से मनुष्य रोगी हो जाता है, ऐसी अवस्था संयम तथा ज्ञान के द्वारा नहीं उत्पन्न होती। संयम धारण करने से आत्मा का अहित कभी नहीं होगा। हां ! अपनी शक्ति के अनुसार आचरण करना चाहिए। शक्ति को न छुपाकर यदि अतिरेक कर लिया, तो संक्लेश होना संभव है। " देखा सीखी कीना जोग, काया छीनी वाढ़ा रोग " यह सूक्ति भी ध्यान में रखना चाहिए। किसी भी वात की मर्यादा का उल्लंघन करने से हानि होती है। कभी कभी

शक्ति रहते हुए भी मानसिक दुर्बलता के कारण प्रमादवश यह जीव अपने अमूल्य जीवन को भोगों की दासता में व्यतीत करता है और अन्त में पश्चात्ताप करता हुआ दुर्ध्यानपूर्वक मरण करता है।

बाह्य-सामग्री का प्रभाव

जीव का उत्थान तथा पतन उसके उज्ज्वल एवं मलिन भावों पर निर्भर हैं। बाह्य सामग्री का प्रभाव मन पर पड़ता है, इससे मलिनता को उत्पन्न करने वाली सामग्री को छोड़कर विशुद्धिप्रद सामग्री का आश्रय लेने की सत्पुरुषों की आज्ञा है। वीतराग भगवान की निर्विकार, शान्त, दिगम्बर तथा ध्यानमय मुद्रा के दर्शन द्वारा स्व-पर की सुरुचि उत्पन्न होती है। भावों में निर्मलता आती है। कषाय भाव उपशांत होते हैं। ऐसा विदित होता है कि मेरी असली मुद्रा तो यही है। मोह के कारण परिग्रह को अपना कर मैंने अपने आपको विकार पुंज बना लिया है। ऐसे भाव सरागी मूर्तियों को देखकर नहीं उत्पन्न होते। क्रोधी तथा उग्ररूप वाली अथवा विलासी मूर्तियों के दर्शन से मोही प्राणी को अन्तः प्रकाश न मिलकर ऐसे विचार प्राप्त होते हैं, जिनसे संसार सिंधु में यह जीव अनंतकाल तक भटकता फिरता है। अतएव मोक्षाभिलाषी व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान के सिवाय अन्यत्र अपनी भक्ति तथा श्रद्धा को अर्पित नहीं करता है। जिनेन्द्र के द्वारा बताए गए अहिंसा पथ पर चलने वाले दिगंबर गुरुओं को वह पूजता है। जिनेन्द्र की वाणी पर पूर्ण श्रद्धा रखता है। देव, गुरु, शास्त्र की प्रगाढ़ श्रद्धा को धारण करने वाला जीव काल-लब्धि आदि अन्तरंग सामग्री के अनुकूल होने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

चक्करदार बात

कोई २ अध्यात्म प्रेमी कहते हैं, "हम निर्ग्रंथ गुरु को तो मानते है। कुंदकुंद स्वामी को हम परम गुरु मानते हैं।" उनका कथन निर्मल मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। उक्त कथन की ओट में वे वर्तमान काल के मुनियों के समुदाय के प्रति अपनी विपरीत भावना तथा अश्रद्धा को छिपाते हैं। जब आगम में कहा है कि इस काल की तो बात ही क्या, यह तो आचार्य शांतिसागर महाराज के शब्दों में

पंचम काल का बाल काल है, पंचम काल के अंत तक मुनिधर्म रहेगा, तब वर्तमान में मुनियों का सद्भाव स्वीकार न कर उनको सम्यक्त्व शून्य कहना और अपने को सम्यक्त्वियों का शिरोमणि रूप में पुजवाना ऐसा अद्भुत सम्यक्त्व है, जिसका जिनागम में कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार की प्रवृत्ति तथा प्रचार यदि मिथ्यात्व नहीं है, तो फिर मिथ्यात्व किसे कहा जायगा ? अनेक प्रकार की बातों को बनाकर अपना तथा अन्य भोले लोगों का अहित नहीं करना चाहिए। थोड़े से मान कषाय में आकर मिथ्या पक्ष नहीं पकड़ना चाहिए। यह सोचना कि कहीं मैंने अपने सिवाय अन्य पुरुष को साधु मान लिया, तो मेरा श्रेष्ठ आसन नीचा हो जायगा, अतः अपने परंपरागत अहंकार भाव की रक्षा के लिए योग्य संयमी पुरुषों के समक्ष विनयावनत न होना अनुचित कार्य है। बड़े पुरुष मान मूर्ति न होकर मार्दव पुज होते हैं । अहंकार भाव तो मिथ्यात्व का गुप्तचर है । उसके रहते हुए सम्यक्त्व की ज्योति अस्तंगत हो जाती है तथा मिथ्यात्व का अखण्ड साम्राज्य स्थापित होता है ।

पंचपरमेष्ठी के नाम-स्मरण की उपयोगिता

चंचल मन प्रायः कुपथ की ओर दौड़ा करता है। प्रयत्न के बिना ही मन में आर्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न हुआ करते हैं। अतः जीव के महान शत्रु रूप उपरोक्त दुर्ध्यानों से बचना चाहिए। धर्मध्यान के लिए संतत उद्योग शील रहना चाहिए। क्षणभर भी प्रमाद करने से बड़े २ योगियों तक का कुगति में पतन हो जाता है। पंचपरमेष्ठी का नाम-स्मरण, गुण चिंतन द्वारा मानसिक निर्मलता प्राप्त होती है। संकट के समय दुःखी जीव को पंचपरमेष्ठी के नाम का बहुत बड़ा सहारा रहता है। वह अपराजित मंत्र परंपरा से मुक्ति का भी कारण है। आज के दुःख प्रचुर तथा अगणित आकुलताओं के जाल में फंसे साधारण व्यक्ति की श्रद्धा महामंत्र की ओर जाना श्रेयस्कर है। इस महामंत्र का अद्भुत प्रभाव है। मरणोन्मुख कुत्ते को जीवंधर स्वामी ने करुणावश णमोकार मंत्र सुनाया था, उसका क्या फल हुआ, इस पर आचार्य वादीभसिंह क्षत्रचूड़ामणि में लिखते हैं;

> यक्षेन्द्रोऽजनि यक्षोऽयमहो मंत्रस्य शक्तितः।
> कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः ॥ ९ सर्ग ४ ॥

मंत्र की शक्ति से कुत्ता यक्षेन्द्र अर्थात देवेन्द्र हो गया। ठीक है रसायन के संसर्ग को प्राप्तकर लोहा कल्याणरूपता अर्थात सुवर्णपने को प्राप्त करता है।

अतः आचार्य कहते हैं:—

मरणक्षणलब्धेन येन श्वा देवताऽजानि।
पंचमंत्रपदं जप्यमिदं केन न धीमता ॥ १०-सर्ग ४ ॥

मरण के क्षण में प्राप्त हुए जिस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से पापाचारी श्वान देवता रूप में उत्पन्न हुआ, भला ऐसे पंच नमस्कार पद को कौन बुद्धिमान् नहीं जपेगा? आज के आर्तध्यान, रौद्रध्यान प्रचुर आसुरी युग में कौन जाने कब, किस प्रकार की विपत्ति आकर घेर ले। अतः सर्वदा सोते, जागते, फिरते शुद्ध अवस्था में पंच परमेष्ठी का नाम स्मरण करना चाहिए। पंच परमेष्ठी की भक्ति द्वारा सर्व मनोरथ पूर्ण होते हैं। विचारों में विशुद्धता आती है और शरीर को कोई कष्ट नहीं होता। भैया भगवतीदास सदृश महान् अध्यात्म विद्या के रसिक कवि इस महामंत्र के विषय में बड़ी महत्वपूर्ण बात कहते हैं—

जहाँ जपें णमोकार वहाँ अघ कैसे आवें?
जहाँ जपें णमोकार वहाँ विंतर भग जावें ॥
जहाँ जपें णमोकार वहाँ सुख संपति होई।
जहाँ जपें णमोकार वहाँ दुःख रहे न कोई ॥

णमोकार जपत नवनिधि मिलैं, सुख-समूह आवे निकट।
'भैया' नित जपवो करो, महामंत्र णमोकार है ॥

परमागम में इस णमोकारमंत्र को श्रेष्ठमंत्र कहा है। इसके द्वारा समस्त पापों का विनाश होता है। कहा भी है

एसो पंच-णमोयारो सव्व-पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥

यह पंच नमस्कार मंत्र संपूर्ण पापों का नाश करने वाला है। यह सर्व मंगलों में प्रधान है। बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सबके लिए इस मंत्र का भक्ति तथा आदर पूर्वक पाठ कल्पवृक्ष के समान है। मुनीन्द्रों

के लिये भी यह परम कल्याणकारी है। इसका चिंतवन धर्मध्यान का अंग है। महाव्रती साधु के लिए तो यह परम निधि है। प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि के लिये इस महामंत्र का पाठ आवश्यक कर्म है।

प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि इस अपराजित मंत्र को सदा स्मरण रखे। इस पंच नमस्कार मंत्र के आद्य अक्षरों के द्वारा ओंकार रूप बीजाक्षर बनता है।

अरहंता असरीरा आइरिया तहा उवज्झया मुणिणो।
पढ़मक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेष्ठी.॥

अरहंत, अशरीर अर्थात्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि इनके प्रथम अक्षरों के द्वारा ओंकार शब्द बनता है, जो पंच परमेष्ठी का वाचक है।

अ (अरहंत)+अ (अशरीर) + आ (आचार्य) + (उपाध्याय) + म (मुनि), अ + अ + आ = आ। आ + ओ+म्=ओम्।

जिस प्रकार पवन के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रहता, अतः पवन को प्राण मानते हैं, इसी प्रकार पंच परमेष्ठी वाचक यह ओं मंत्रों का मूल बीज है। कहा भी है :—

ओंकारं विंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायंति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः॥

ॐकार का महत्व

योगी लोग बिन्दुसंयुक्त ॐ का सदा ध्यान करते हैं। यह संपूर्ण कामनाओं को पूर्ण करता है तथा मोक्ष को भी प्रदान करता है। 'कामद और मोक्षदं' परस्पर विरुद्ध पद प्रतीत होते हैं। इसका सुन्दर समाधान करते हुए स्व० आचार्य वीरसागर महाराज ने कहा था, "यह ओंकार तेरहपंथी को मोक्षदं है—मोक्ष प्रदाता है। यह मंत्र वीसपंथी को 'कामदं' है—स्वर्गादि का कारण है।" मेरे पूछने पर उनने कहा था "तेरहपंथी हम हैं, क्योंकि पंच समिति, पंच महाव्रत तथा तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र पालन करते हैं।" इसके

पश्चात् उनने कहा था;"बीस पंथी तुम गृहस्थ लोग हो, जो पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत तथा अष्ट मूलगुण रूप बीस व्रतों को पालते हो। गृहस्थावस्था वाले के मोक्ष नहीं होता, अतः वह शुभ बंध करता है। निर्ग्रंथ पद से साक्षात् मोक्ष मिलता है, इससे उसकी अपेक्षा ओंकार को मोक्षदं कहा। इसके पश्चात् उन सरल-चेतस्क आचार्य महाराज ने कहा; "इस अपेक्षा से देखा जाय, तो तेरापंथी हुए बिना मोक्ष नहीं मिलेगा। बीसपंथी को मोक्ष नहीं मिलता, वह स्वर्ग प्राप्त करता है।" आज आगम पंथ को छोड़कर लोग मनमाने पंथ में चल रहे हैं। हमारा हित आगम पंथी होने में है।

आचार्य शांतिसागर महाराज ने एक बार कहा था;"भगवान मोक्ष चले गए, तो क्या हुआ, उनका हृदय तो आगम में निबद्ध है। श्रद्धापूर्वक यदि आगम का अभ्यास हो और आगम की आज्ञानुसार प्रवृत्ति की जाय, तो मोक्ष दूर नहीं है।"

स्याद्वाद-चक्र

जिनागम को समझना है, तो एकान्तवाद का दुराग्रह छोड़ना होगा। भगवान का स्याद्वाद चक्र बड़ा विचित्र है। उसके तीक्ष्ण प्रहार द्वारा जैसे व्यवहार के एकान्ती का पक्ष छिन्न-भिन्न होता है, उसी प्रकार निश्चय पक्ष के एकान्ती की भी दुर्गति होती है। अध्यातम के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले के हाथ में यदि स्याद्वाद का प्रदीप न रहा, तो वह आत्मतत्व का अमृत तुल्य निरुपण विषरुपता को धारण करता है। इसी कारण कुंदकुंद स्वामी के आध्यात्मिक ग्रन्थों के मर्मज्ञ मुनीन्द्र अमृतचंद्र स्वामी ने बार बार अनेकांत दृष्टि को प्रणाम किया है, जिसके द्वारा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अथवा व्यवहार नय, निश्चय नय का विरोध दूर होता है।

निश्चयाभास पक्ष से गड़बड़ी

स्वामी समंतभद्र ने विमलनाथ भगवान के स्तवन में कहा है कि परस्पर निरपेक्ष नय एक दूसरे के नाशक हैं तथा परस्पर सापेक्ष वे वे ही नय एक दूसरे का उपकार करते हैं। (१) अध्यात्म के क्षेत्र में

---

(१) य एव नित्यक्षणिकादयो नयाः मिथोनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिण. ॥६१॥

व्यवहार नय को सर्वथा मिथ्या मानने वालों के समक्ष बड़ी विकट समस्या आ जाती है। निश्चय ही परमार्थ है ऐसी ममता के अतिरेक वश व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ कहने से तत्व व्यवस्था में अपरिहार्य गड़बड़ी आयगी। उदाहरणार्थ शुद्ध तत्व को ग्रहण करो यह कहने वाले निश्चय नय की दृष्टि में पुद्गल द्रव्य की शुद्ध पर्याय परमाणु ही ग्राह्य होगी। स्कंध अशुद्ध पर्याय है, जो व्यवहार नयगोचर होने से अभूतार्थ तथा असत्यार्थ होगी।

'अध्यात्मकमल-मार्तण्ड' में शब्द, बंधादि को अशुद्धपर्याय कहा है।

शब्दो बंधः सूक्ष्मस्थूलौ संस्थानभेदसन्तमसम्।
छायातपप्रकाशाः पुद्गलवस्तुनोऽशुद्धपर्यायाः ॥ ३-२४

परमाणु शुद्ध पर्याय है, इसे इन शब्दों में कहा है—

पर्यायः परमाणुमात्र इति संशुद्धन्वयाख्यः ॥ २३ ॥
शुद्धः पुद्गलदेश एकपरमाणुः संज्ञया मूर्तिमान् ॥ २०-सर्ग ३ ॥

व्यवहार नय गोचर होने से यदि शब्द रूप पुद्गल अभूतार्थ है, तो शब्दात्मक दिव्यध्वनि को अभूतार्थ स्वीकार करना होगा। उस दिव्यध्वनि में प्रतिपादित समयसारभी भूतार्थ नहीं हो सकेगा। दिव्यध्वनि यदि असत्यार्थ हो गई, तो मोक्ष का मार्ग किसके आश्रय से ज्ञात होगा? इस कथन का विरोध उसी समय दूर हो जाता है, जब दोनों अपेक्षाओं में सापेक्षता की स्थापना होती है।

सापेक्षता भाव

हम किसी मनुष्य का केमरा से फोटो खेंचते हैं, तो वह सुन्दर दिखता है। उसी व्यक्ति का एक्सरे यंत्र द्वारा फोटो खेंचने पर एक विलक्षण प्रकार अस्थिपंजर मात्र दृष्टिगोचर होता है। ग्रामीण व्यक्ति केमरे की फोटो के साथ व्यक्ति की पूर्णतया अनुरूपता देखकर उसे सच्ची फोटो मानेगा, किन्तु अस्थिजाल को वह फोटो नहीं मानेगा। विज्ञ व्यक्ति की दृष्टि में दोनों चित्र यथार्थ हैं। यही स्थिति व्यवहार नय तथा निश्चय नय द्वारा तत्वनिरूपण के विषय में रखना

आवश्यक है। आचार्य कुंदकुंद ने समयसार में बताया है, केवली की परमार्थ स्तुति उनके गुणों का वर्णन है। शरीर के गुण केवली के नहीं होते हैं। अतएव निश्चय दृष्टिसे गुण-स्तुति ही यथार्थ स्तुति है। निश्चय नय को यह बात मान्य है। (गाथा २८, २६ समयसार)। इस कथन का एकान्त असम्यक् है; कारण भक्तामरस्तोत्रादि में जिनेन्द्र भगवान के शरीर, रूपादि का गुण-वर्णन किया गया है। उसे कैसे मिथ्या कहा जायगा ?

विकृत-दृष्टि

शंकाकार—मैं तो एक-मात्र कुंद्-कुंद् स्वामी को मानता हूँ। उनको ही तत्वकी उपलब्धि हुई थी और उसी प्रकार मुझे भी हुई है। अन्य आचार्यों को बुरा कहने से जनता में क्षोभ होगा, इससे मैं स्पष्ट नहीं कहता। अतः कुंद्-कुंद स्वामी से भिन्न आचार्यों का कथन सच पूछो, तो मैं प्रमाण नहीं मानता। मेरे लिए एकमात्र कसौटी भगवान कुंद्-कुंद् हैं और सीमंधरस्वामी हैं।

समाधान—जो व्यक्ति एक आचार्य को प्रमाण मानकर समस्त आगम को प्रमाण नहीं मानता, वह अपने को तत्वज्ञ भले ही कहे; उसके भक्तभी उसे तत्वज्ञ-चूड़ामणि कहकर उसकी भक्ति करें, लक्ष्मी की कृपा से उसके समीप कदाचित् सोना भी बरस जाय, किन्तु उसे तत्वज्ञ सम्यक्त्वी मानना ऐसा ही होगा जैसे 'नयनसुख' नामवाले नेत्रहीन व्यक्ति की यह स्तुति करना कि वह बहुत सुन्दर देखता है। वन्ध्या के यदि पुत्र का राज्याभिषेक हो सकता है, तो एक ग्रन्थ को ही प्रमाण मानने वाला भी सम्यक्त्वी माना जा सकता है। आगममें स्पष्ट कहा है, कि सम्यक्त्वी के आस्तिक्य गुण रहता है, उससे वह समस्त जिनागम को प्रमाण मानता है। एक अक्षर भी आगम का अप्रमाण मानने वाले के सम्यक्त्व प्रदीप नहीं पाया जाता।

कुंद-कुंद स्वामी अत्यन्त पूज्य आचार्य-शिरोमणि हुए हैं। उनने समयसार ग्रन्थ को श्रुतकेवली द्वारा कथित कहा है "वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं" (समयसारगाथा १)। इससे यह स्पष्ट है कि यथार्थ में समयसार श्रुतकेवली की वाणी है। गौतम स्वामी श्रुतकेवली थे, बादमें वे केवली हुए हैं। उनके द्वारा रचित

प्राकृतग्रन्थ 'प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी' विद्यमान है। जब कोई बात समयसार की समझने में परम्परा, अनुभवादि से संघर्ष होता दिखे, उस समय पूर्व आचार्य के रूप में गणधरदेव के वाक्य विशेष प्रकाशदाता मानें जांयगे। कुंद-कुंद स्वामी बोध-पाहुड़ में भद्रबाहु श्रुतकेवली को गुरु रूप में कहते हैं, "सुयणाणि-भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ" (गाथा ६२) इससे शङ्काकार की कुंद-कुंद भक्ति यदि विवेकपर स्थित है, तो वह श्रुतकेवली की वाणी की अत्यधिक प्रमाण रूपता स्वीकार करेगी। गणधरदेव रचित "महाकम्म-पयडि-पाहुड" के आधार पर पुष्पदन्त भूतवलि आचार्य ने षट्खंडागम सूत्र रचे हैं, जिसका छटवां खण्ड महाबंध ग्रन्थराज के नाम से विख्यात है। यदि शुद्धात्म तत्व के निरुपण को दृष्टि में रखकर समयसारशास्त्र आत्मा को ज्ञाता मात्र मानता है, तो अन्य दृष्टि को प्रमुख बनाकर श्रुतकेवली कथित महाबंध का प्रमेय चालीस हजार श्लोक प्रमाण सूत्रों में निबद्ध किया गया है। मुमुक्षु सत्पुरुषों के हितार्थ बंध तत्व का निरूपकशास्त्र भी सतत मनन तथा अभ्यास के योग्य है। सत्पुरुष होते हुए जो आत्मार्थी है, वह अहंकार भाव का त्यागकर सत्य तत्व को तत्काल शिरोधार्य करेगा, कारण सत्पुरुष, जो सत्य हैं, उसे अपनाते हैं। इससे स्व तथा पर कल्याण के हेतु एकान्त पक्ष का त्याग करना श्रेयस्कर है। सच्ची प्रतिष्ठा असत्य को छोड़कर सत्यका शरण ग्रहण करने में हैं। मिथ्या पक्ष वाला जीव मृत्यु के उपरान्त अकथनीय दुःखों को भोगता है। अतः कुंदकुंद स्वामी का भक्त बनने के साथ गुरु परम्परा का भी भक्त बनना चाहिए, जो जिनेन्द्रवाणी का अनुकरण करती चली आई है।

भरत और विदेह की प्रणाली में भेद

भगवान् सीमंधर स्वामी तीर्थंकर परमदेव हैं। अनंतबार प्रणाम योग्य हैं। उनका शासन विदेह में है। विदेह में वे दो वर्णों को ही मोक्ष का पात्र कहते हैं, कारण विदेह में क्षत्रिय तथा वैश्य मात्र द्विज हैं। ब्राह्मण वर्ण की भरतक्षेत्र में इस हुंडावसर्पिणी काल में भरत महाराज ने स्थापना की थी। भरतक्षेत्र में महावीर भगवान् का तीर्थ प्रवर्तमान है। उनने त्रैवर्णिक को मोक्ष का पात्र कहा है। उनके तीर्थ में रहनेवाले मुमुक्षुवर्ग का कर्तव्य है, कि वह उनके शासन के अनुसार प्रतिपादन करे, जिनका यहां तीर्थ चलता है। विदेह में 'चातुर्याम'

संयम अर्थात् सामायिक परिहारविशुद्ध सूक्ष्मसांपराय तथा यथाख्यात संयम का कथन है। भरतक्षेत्र में उक्त चार प्रकार के चारित्रों के सिवाय छेदोपस्थापना रूप चारित्र का विशेष उल्लेख है। यह विशेष कथन ऋषभनाथ भगवान तथा महावीर भगवान के तीर्थ की अपेक्षा कहा गया है, कारण आदिनाथ प्रभुके तीर्थ में लोग ऋजुस्वभावी अर्थात् सरलप्रकृति के थे और अंतिम वीर भगवान के तीर्थ में लोग वक्रस्वभावी हो गए। दोनों के तीर्थ में शिष्यगण कल्प्य (योग्य) अकल्प्य (अयोग्य) का भेद नहीं जानते थे। मूलाचार में कहा है :—

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥३६॥ आवश्यकाधिकार

बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया है। ऋषभ भगवान तथा वीरभगवान ने छेदोपस्थापना संयम का भी उपदेश दिया है।

मुनियों के षडावश्यकों में स्तवका कथन आता है। पूर्व पश्चिम के विदेह क्षेत्रों की अपेक्षा सामान्यतीर्थंकर का स्तव किया जाता है। चतुर्विंशतिस्तवका कथन भरतक्षेत्र तथा ऐरावत की अपेक्षा कहा गया है। आवश्यक अधिकार की ४१ वीं गाथा की टीका में वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है ;—

"भरतैरावतापेक्ष श्चतुर्विंशतिस्तव उक्तः। पूर्वापरविदेहापेक्षस्तु सामान्यतीर्थंकरस्तव" (पृष्ठ ४१८, संस्कृत टीका, मूलाचार)

विदेह में चक्रवर्ती सूर्य में विराजमान जिनबिम्ब की आज भी अर्चा है, किन्तु इस समय वीर जिनके तीर्थ में यह कार्य ठीक नहीं बताया गया। वीरचर्या आतापन योगादि का विदेह क्षेत्र में श्रावक के लिए निषेध नहीं है, किन्तु इस समय हीन संहनन होने से वीर जिनके तीर्थ के लिए यह मार्ग ग्राह्य नहीं बताया गया है। कथन का सार इतना ही है, कि सीमंधर आदि तीर्थंकरोंके तीर्थ की अपेक्षा कुछ बातें इस समय दुषमा काल युक्त भरतक्षेत्र में भिन्न कही गई हैं। भरतक्षेत्र का मुमुक्षु सम्यक्त्वी दोनों स्थानों के जिनेन्द्र देवों की पूजा भक्ति बराबर करेगा, किन्तु आचार की दृष्टि से वह वीर जिनके तीर्थगत होने से वीर प्रभु की देशना को अपने लिए आवश्यक मानेगा।

ऐसी स्थिति में कुछ लोगों द्वारा सीमधर भगवान का ही सर्वदा उल्लेख इस बात को सूचित करता है कि उनकी दृष्टिमें यह बात नहीं आई है, कि विदेह वाले व्यक्ति वीस तीर्थंकरों के तीर्थ में हैं। वीर प्रभु के तीर्थमें होने से हमारे लिए कथित वीर भगवान का शासन प्रमुख रूप से मान्य है। एक तीर्थंकर में ही अधिक भक्ति होना शुद्ध दृष्टिका असद्भाव सूचित करता है, कारण सभी तीर्थंकर गुण तथा सामर्थ्य की अपेक्षा समान हैं। उनमें भेद की कल्पना दर्शनमोह कर्मका कार्य है।

कुंदकुंद स्वामी द्वारा शरीर की स्तुति

समयसार में जिनेन्द्र भगवान की गुणस्तुति को परमार्थ स्तुति कहने वाले कुद-कुंद स्वामी ने शीलपाहुड के मंगलाचरण में वीरभगवान की शरीर-स्तुति करते हुए यह सूचित किया है कि व्यवहारनय सर्वथा मिथ्या नहीं है। स्तुति के शब्द इस प्रकार हैं :—

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पल-कोमल-समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं निसामेह ॥ १ ॥

मैं केवलज्ञान रूप विशालनेत्र वाले, 'लाल कमल के समान कोमल चरणवाले' वीर प्रभु को मन, वचन, काय से प्रणाम कर शील के गुणों को कहता हूँ।

यहां 'रत्तुप्पल-कोमल-समप्पायं' वीर प्रभु के शरीर का वर्णन करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कुदकुंद-स्वामी गुण-स्तुति तथा शरीर स्तुति दोनों को ठीक मानते थे। उनकी दृष्टि अनेकांत की ज्योतिसे समलंकृत थी।

आत्मा की उपलब्धि अत्यंत कठिन है

आज आत्म विषयक चर्चा की गंभीरता को भुलाकर उसे कहीं-कहीं बहुत ही साधारण स्तर की वस्तु बताया जाता है, किन्तु सरल दिखते हुए भी वह अत्यत कठिन है। कुंदकुद स्वामी का यह कथन अत्यंत गंभीर तथा विशेष मननीय है:—

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।
भावियसहावपुरिसो विसएसु विरज्जए दुक्खं ॥ ६५ ॥

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥मोक्षपाहुड॥

आत्मा बड़ी कठिनता से जाना जाता है। आत्मा का अवबोध होने पर उसकी भावना बहुत कठिन है। आत्म स्वरूप की भावना करने वाला पुरुष बड़े कष्ट से विषयों से विरक्त होता है।

जब तक मनुष्य का मन विषयों में प्रवर्तमान हो रहा है, तब तक वह आत्मा को नहीं जान पाता है। विषयों से विरक्त मनवाला योगी (मुनि) ही आत्मा को जानता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है—

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं ।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥ २७९ ॥

जगत में तत्व की बात सुनने वाले विरले हैं। उनमें भी तत्व को जानने वाले विरले हैं। तत्व की भावना करने वाले और भी विरले हैं। उनमें भी तत्वों की धारणा करने वाले विरले हैं।

अनादिकाल से अनात्म पदार्थों में जीव प्रीति रखता चला आया है, इससे आत्म तत्व की ओर मन प्रयत्न करने पर भी नहीं झुकता है। यह आत्म तत्व का निरूपण इतना सरल नहीं है, जितना लोग कह दिया करते हैं। कुंदकुंद स्वामी इसका निरूपण करने के पूर्व विषय की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए कहते हैं, कि 'इस आत्म तत्व का निरूपण करते समय यदि मैं कदाचित् मिथ्या निरूपण कर जाऊं, तो तुम अनुभवादि के आधार पर सुधार कर लेना। यह नहीं सोचना कि मैंने जानकर बुरे भावों से मिथ्या निरूपण किया है (समयसार गाथा ५)। उनने यह भी लिखा है कि आत्मा की शुद्धता का अनादिकाल से अब तक श्रवण, परिचय तथा अनुभूति नहीं हो पाई, अतः छद्मस्थ होने के कारण भूल होने की संभावना है। ऐसी अवस्था में आगम-तर्क-परमगुरूपदेश - स्वसंवेदन - प्रत्यक्षेण प्रमाणी कर्तव्यं भवद्भिः"—आगम, युक्ति, परम गुरु का उपदेश तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना चाहिए। अतः आत्मतत्व का कथन करने वाला यह समयसार सचमुच में ग्रंथों का राजा है।

श्रमणों का शास्त्र समयसार

ग्रन्थ में अनेक बार मुनि शब्द का उल्लेख आया है । उससे प्रतीत होता है कि परिग्रह रहित मुनि की अपेक्षा इस ग्रंथ में मुख्यता से कथन किया गया है। परिग्रह पंक में लिप्त समल गृहस्थ यथार्थ में आत्मा की शुद्धता का आख्यान करता हुआ भिन्न कही जाने वाली पुद्गल का आश्रय लेता है, अतः उसकी चर्या गजस्नान सदृश है । चर्चा और चर्या में विषमता विवेकियों के बीच परिहास की वस्तु दिखती है। मुख से यह कथन कि सत्य भाषण करना चाहिए, किन्तु प्रवृत्ति में सत्य का लेश भी न दिखे, तो उस वाणी का मूल्य नहीं रहता है । इसी प्रकार संयम से शत्रुता धारण करने वाले किंतु आत्मा की बात करने वालों का कथन दिखता है। गृहस्थों का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए श्रावकाचार के पालनार्थ प्रमाद नहीं करें ।

द्रव्य-स्वतंत्रता

स्याद्वाद दृष्टि को समक्ष रखने से आगम में विरोध नहीं दिखेगा, अन्यथा वीतराग शासन की भी एकान्तवादियों सदृश दुर्गति होगी। अध्यात्मवादी सब द्रव्यों की स्वतंत्रता बताते हुए कहते हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता है । यह कथन उपादान-उपादेय भाव की अपेक्षा सम्यक् तथा निराबाध है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन में भी निमित्त बनता है। उनका निमित्त, नैमित्तिकपना स्वीकार न करना आगम तथा अनुभवविरुद्ध है । निमित्त कारण अपने योग्य कार्य करता है, वह उपादान का कार्य नहीं करता है। इस वस्तु स्थिति को विस्मरण कर निमित्त की एकान्त उपेक्षा आगम, युक्ति तथा अनुभव के विपरीत है। जीव तथा पुद्गल के गमन में निमित्त रूप-धारी द्रव्य का सद्भाव आगम में माना गया है। उर्ध्वगमन स्वभाव वाला अनंत शक्तियुक्त मुक्तात्मा लोकाग्र के आगे नहीं जाता है। यह निमित्तरूप धर्मद्रव्य के अभाव वश होता है। यह कहना कि ऐसा जीव का स्वभाव ही है व्यक्तिगत कल्पनामात्र है । लोक के अग्रभाग तक जाना जीव का स्वभाव नहीं कहा गया है। उर्ध्वगमन-सामान्य स्वभाव कहा गया है। वह स्वभाव सिद्धभूमि में विराजमान सभी सिद्धों में है; निमित्त कारण का अभाव होने से वे तनुवात-वलय के अंत से एक प्रदेश भी आगे नहीं जाते।

सभी द्रव्यों के परिणमन में काल द्रव्य को निमित्त कारण माना है। द्रव्य में परिणमन की शक्ति होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति काल द्रव्य रूप निमित्त कारण से होती है। षट् द्रव्य व्यवस्था के लिए जो युक्तिवाद दिया जाता है, वह निमित्तकारण को मानने पर ही बनता है।

मुनि की अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय तथा साधु समान हैं फिर भी जो साधु आदेश, उपदेश दे भव्यों का उपकार करते हैं, उनको आचार्य कहते हैं। जो आदेश न देकर उपदेशामृत पान कराकर जीवों का हित करते हैं, उनको उपाध्याय कहते हैं। यदि एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी कार्य नहीं करता, ऐसा एकान्त पक्ष पकड़ा जाय तो पंचनमस्कार मंत्रमें जो पहले 'णमो अरिहंताणं' पाठ है, उसके स्थान में 'णमो सिद्धाणं' पाठ बदलना होगा। मूल मंत्र में जीवों का उपकार करने के कारण सिद्धों से गुणों में न्यून होते हुए भी अरहंतों को प्रथम में नमस्कार किया गया है। यदि एक द्रव्य द्वारा दूसरे का कुछ भी कार्य नहीं होता, ऐसा एकान्तपक्ष अंगीकार किया जाय, तो आचार्य, उपाध्याय, अरहंत भगवान की लोक-कल्याणकारिता असत्य हो जाती है। महामंत्र का ढांचा ही बदल जायगा, यदि एकान्त दृष्टि का आश्रय ग्रहण किया गया।

सम्यक्त्व के निसर्गज, अधिगमज रूप दो भेदों का सद्भाव निमित्त कारण के महत्व को ज्ञापित करता है। परोपदेशपूर्वक अधिगमज सम्यक्त्व कहा गया है, उसके विना जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे विसर्गज सम्यक्त्व कहा है। दोनों सम्यक्त्वों में अंतरंग हेतु दर्शन मोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम समान रूप से माना गया है, उनका भेद निमित्त कारण की अपेक्षा कहा गया है।

सम्यक्त्व का निमित्त कारण शास्त्र है—

नियमसार में कुंद-कुंद स्वामी ने जिनागम को स्पष्ट शब्दों में सम्यक्त्व का निमित्त कारण स्वीकार किया है। कहा भी है:—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरभेयो भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

युक्ति तथा अनुभव के द्वारा भी निमित्तकारण की उपयोगिता स्पष्ट होती है। एक वृद्ध पुरुष चश्मा लगाकर भगवान का दर्शन करता है। शास्त्र पढ़ता है। लाठी लेकर मंदिर में जाता है। उक्त साधनों के अभाव में पूर्वोक्त कार्य नहीं होते हैं। अतः निमित्तकरण को व्यर्थ बताना युक्ति तथा अनुभव के भी विरुद्ध है। जब कोई निमित्तकारण का ही एकान्त पकड़कर उपादान कारण की उपेक्षा करता है, तब वह पक्ष सदोष हो जाता है। जैन शासन में सर्व तत्व व्यवस्था कार्य-कारण भाव पर आश्रित है। इसके नियम को खंडित करना ईश्वर का भी कार्य नहीं माना गया है। ऐसी स्थिति में कभी कभी ऐसी बहस की जाती है कि केवली भगवान ने जैसा देखा है, वैसा परिणमन होगा, कारण कुछ नहीं करते। हमें चुप बैठना चहिये।

केवली के ज्ञान का आश्रय लेकर तत्व की व्यवस्था पर विचार

तात्विक दृष्टि से विचार करने पर यह धारणा युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होती। आज सर्वज्ञ का दर्शन नहीं होता है। यहां सर्वज्ञ का सद्भाव न होने से उनके ज्ञान को अवलंबन मानकर तत्व निर्णय करते बैठना उचित नहीं हैं। पदार्थ अपने कार्य कारण भाव के आधीन है। बालक युवा होगा, युवा वृद्ध होकर मृत्यु के मुख में जायगा, यह वस्तु का नियम है। उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यपने का व्यापक नियम प्रत्येक सदात्मक पदार्थ में पाया जायगा। पदार्थ की विशेषता उसकी परिणमनशीलता है। विविध प्रकार के परिणमन होते हैं। बाह्य निमित्त उस परिणमन में कारण पड़ता है। जैसे बालक ने पत्थर से कांच का बर्तन फोड़ दिया। बालक कांच के वर्तन से भिन्न है। उसके कारण कांच के टुकड़े टुकड़े हो गए। निमित्त कारण बाह्य पदार्थ होता है। उपादान कारण पदार्थ की पूर्व अवस्था है, जो निमित्त का योग पाकर उपादेय रूपता को प्राप्त करती है। काष्ठ से कुरसी बनाई गई। यदि बढ़ई तथा उसके यंत्रादि न होते, तो कुरसी न बनती। काष्ठ के अभाव में भी उक्त कारणों के होते हुए कुरसी नहीं बनती। सभी योग्य कारण समुदाय के होने पर कार्य की निष्पत्ति होती है। छोटा सा भी कारण अनेक कारणों के होते हुए भी कार्य सिद्धि में विघ्नकारक हो जाता है। बहुमूल्य अच्छी घड़ी में यदि कांटों को मिलाने वाली छोटी सी लोहे की कील न हो, तो वह घड़ी कार्य सिद्ध नहीं करती है। " जहां काम आवे सुई, कहा करै तलवार "।

बाह्य सामग्री का महत्व

हिंसा का सम्बन्ध जीव के अध्यवसान या भाव से है। बाह्य जीव के मरने या न मरने से हिंसा का सम्बन्ध नहीं है; यह मूल सिद्धान्त होते हुए भी जीवघातादि कार्यों को करने का निषेध इससे किया जाता है कि उन निमित्तों का आश्रय पाकर भावों में अशुद्धता उत्पन्न हुआ करती है। बाह्य पदार्थ यदि कुछ कार्य न करता तो दिगम्बर मुद्रा की क्या आवश्यक्ता थी? बाह्य दिगम्बरत्व मात्र कार्यकारी नहीं है, उसके साथमें भावतः भी दिगम्बरत्व आवश्यक है। केवल चश्मा देखने में कारण नहीं है। नेत्रों में देखने की शक्ति का भी सद्भाव जरूरी है।

सम्यक्त्व तो आत्मा का विशुद्ध परिणाम है, फिर भी कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र को सम्यक्त्व का अनायतन कहा है, क्योंकि उनका आश्रय लेने से तत्वरुचि का नाश होकर मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। देव, गुरु, शास्त्र, तीर्थ स्थानादि सम्यक्त्व के आयतन (स्थान) हैं। इनके निमित्त से जीव की मलिन परणति दूर होकर बहिरात्मा की अन्तर्दृष्टि जागृत होती है। बुधजन जी का यह छोटासा दोहा निमित्त कारण के महत्व पर मार्मिक प्रकाश डालता है।

जैसी संगति कीजिए तैसे हों परिणाम।
तीर गहे ताके तुरत, माला ले प्रभु नाम॥

तीर को हाथ में लेते ही उसे निशाना पर छोड़ने के भाव अनायास होते हैं तथा माला को हाथ में लेते समय मनुष्य सहज ही अपने इष्ट देव का नाम लेने लगता है। जिनेन्द्र भगवान के शरण में जाने से रागादि विकार शून्य होते हैं। चित्रपटादि की ओर जाने से रागादि भावों की वृद्धि होती है। अतः निमित्त कारण की भी उचित सामर्थ्य मानना चाहिये।

आजकल भरत ऐरावत से मोक्ष नहीं होता, इसका क्या कारण है? मोक्ष का कारण है शुक्लध्यान। उस ध्यानाग्नि के द्वारा आठों कर्म भस्म हो जाते हैं। वज्रवृषभ संहननधारी के ही श्रेष्ट शुक्लध्यान होता है। आज उस संहननका अभाव है। इससे यहाँ से मोक्ष गमन का भी अभाव कहा गया है। सदाचार के क्षेत्र में निमित्त

कारणों का बहुत मूल्य है। ब्रह्मचर्य व्रत के लिए स्त्री-राग-कथा-श्रवण त्याग, तन्मनोहरांग-निरीक्षण-त्याग, पूर्वरतानुस्मरण-त्याग, रुचि प्रदतथा कामोद्दीपक पदार्थों के भक्षण का त्याग तथा स्वशरीर-संस्कार का त्याग आवश्यक है। ये बाह्य निमित्त हैं। इनकी यदि उपेक्षा की तो मनुष्य सदाचार के मार्ग से गिर पड़ेगा। बाह्य कारणों का मनो भावों पर प्रभाव पड़ता है, इस तत्व का निश्चय कर सर्वज्ञ देव ने बुरे निमित्तों के त्याग का उपदेश दिया है। भगवती आराधना का यह कथन मार्मिक है—

महत्वपूर्ण शिक्षा—

तं वत्थुं मुत्तव्वं जं पडि उप्पज्जए कसायग्गी।
तं वत्थु सल्लियजो जत्थुवसम्मो कसायाणं॥ २६२॥

जिन कारणों से कषाय रूप अग्नि उत्पन्न हो, वे सभी पदार्थ हेय हैं। जिनसे कषायों का उपशमन हो, वे सभी वस्तु उपादेय हैं। अर्हन्त भगवान, निर्ग्रन्थगुरु आदि साधन आत्मा से भिन्न होते हुए भी निर्मलता के साधन होने से आत्मार्थी मानव के लिए मंगलरूप हैं, शरण रूप हैं, तथा लोकोत्तम माने गए हैं। परमात्मप्रकाश टीका में लिखा है - प्राथमिकानां चित्तस्थितिकरणार्थं विषय-कषाय-दुर्ध्यान-वचनार्थं च परंपरया मुक्तिकारणमर्हदादि-परद्रव्यं ध्येयं, पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्मतत्वमेव ध्येयं, नास्त्येकान्तः" (पृष्ठ १७१)। प्रथम अवस्था में चित्त के स्थिर करने के लिए, विषय कषाय रूप खोटे ध्यान के रोकने के लिए परपरा से मुक्ति के कारण रूप अर्हन्तादि पचपरमेष्ठी रूप परद्रव्य ध्यान करने योग्य हैं, पश्चात चित्त में स्थिरता आने पर साक्षात् मुक्तिका कारण निज शुद्धात्मतत्व ही ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार एकान्त पक्ष नहीं है।

आत्मचिंतन के साधन—

ध्यान की सिद्धि के लिए परमात्म-प्रकाश के टीकाकार ने यह सुन्दर पद्य उद्धृत किया है—

वैराग्यं तत्वविज्ञानं नैर्ग्रंथ्यं वशचित्तता।
जितपरीषहत्वं च पंचैते ध्यानहेतवः॥ पृष्ठ ३३२॥

संसार से विरक्तभाव, तत्व का विशेष अवबोध, सकल परिग्रह का परित्याग, मन का वश में करना तथा क्षुधादि परीषहों को जीतना ये पांच आत्म-ध्यान के कारण हैं।

इससे विचारवान व्यक्ति का कर्तव्य है, कि वह निमित्त कारणों का उचित मूल्य सोचते हुए उपयोगी सामग्री का आश्रय लेकर मोक्षमार्ग में बढ़ता जाय। बुरे साधनों से महान योगी भी की क्षणभर में दुर्गति हो जाती है। अतः मानसिक निर्मलता संपादनार्थ सतत सजग रहना श्रेयस्कर है। जिनवाणी का रसास्वाद लेने वाले साधक का कर्तव्य है, कि वह एकान्त पक्ष के भंवर में अपनी विचाररूपी नौका को न डूबने देवे। बुद्धिमान समयज्ञ का कर्तव्य है कि विभिन्न ग्रंथों में कहीं गई पृथक-पृथक विचारधाराओं का समन्वय करे। अपने अल्पज्ञान की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन न करे। अपने को अधिक बुद्धिमान मानकर जो आगम के अर्थ का अनर्थ करता है, वह जीव संसार के कुचक्र से कैसे बचेगा? समन्वयबुद्धि के द्वारा देखने पर चारों अनुयोग शास्त्र कल्याण-प्रद लगेंगे। आत्मा की चर्चा करने में निपुणता प्राप्त कर ली, किन्तु किस प्रकार भगवान के दर्शन, पूजनादि करना, कैसे पानी छानना, पात्रों को कैसे आहार देना आदि जीवन के आवश्यक कार्यों में दक्षता न प्राप्त की, तो वह आत्म-चर्चा बौद्धिक विलास की वस्तु बन जाती है। मन सदा तो आत्म की चर्चा में लगा नहीं रह सकता। उस चचल मन को विविध उज्ज्वल क्षेत्रों तथा सत्कार्यों में लगाना आवश्यक है।

बाह्यशुद्धि और आत्म-विकास—

कोई २ सोचते हैं, आत्म विकास के लिए बाहरी खानपान की शुद्धि व्यर्थ की वस्तु है। उसमें क्या सार है? खानपान का विचारों के साथ क्या संबंध है?

यह दृष्टि ठीक नहीं है। आहार-विहार का मनोवृत्ति पर प्रभाव पर पड़ता है। मांसभक्षी तथा शराबी उत्तेजनाशील, विषयासक्त तथा मलिन परिणाम वाले होते हैं। अनछना पानी पीना, रात्रि भोजन करना, जीवदया का ध्यान न रखना, स्वच्छन्द आचरण करना और समयसार की दुहाई देना शास्त्र को शस्त्र बनाकर स्वयं अपनी आत्मा का घात करने के समान है। सात्विक भोजन उज्ज्वल भावों में सहायक है। एक कवि की कल्पना कितनी अर्थपूर्ण है—

प्रदीपो भक्ष्यते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते ।
यादृशं भक्ष्यते ह्यन्नं तादृशी जायते मतिः ॥

दीपक के जलने पर अंधकार दूर हो जाता है; इस पर कवि कहता है कि दीपक ने अंधकार का भक्षण किया है, इसी से दीपक के जलने के बाद काजल की उपलब्धि होती है। इस पर कवि नीति की बात कहता है, कि जैसा आहार होता है, उसी प्रकार की बुद्धि होती है।

पं० आशाधरजी ने मार्मिक शब्दों में पूर्ण गृहस्थ-धर्म को इस पद्य में निबद्ध किया है जो आत्महितैषी मानव को ध्यान से मनन योग्य है—

सम्यक्त्व-ममल-ममला-न्यणुगुण-शिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोयम् ॥ सागारधर्मामृत अ०-१

शंकादि दोषरहित सम्यक्त्व, पचाणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत मरण के अंत में विधिपूर्वक सल्लेखना अर्थात् समाधि यह परिपूर्ण गृहस्थ का धर्म है।

आत्मा का स्वरूप

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आत्म स्वरूप का चितवन आवश्यक है। पूज्यपाद स्वामी आत्मा के विषय में इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :—

स्वसंवेदन - सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यन्त सौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥ इष्टोपदेश

स्वानुभव के द्वारा सुव्यक्त अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट, शरीर प्रमाण विनाश रहित, अनन्त-सुख-सम्पन्न तथा लोकालोक का ज्ञान युक्त आत्मा है।

यह 'अनंतानंतधीः शक्तिः'—अनंतज्ञान तथा अनंतशक्ति सम्पन्न है। कुदकुंद स्वामी समयसार में आत्मा के विषय में कहते हैं:—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाणमइयो सयाऽरुवी ।
णवि अत्थिमज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ ३६ ॥

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, सदा रूपरहित हूँ। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

आत्मा के स्वरूप को बताने वाली यह गाथा पंचास्तिकाय में १२७ नम्बर पर, समयसार में ४९ नम्बर पर तथा भावपाहुड में भी ६४ वें नम्बर पर दी गई है। इससे इसका महत्व स्पष्ट होता है।

अरस-मरुव-मगंधं अव्वत्तं; चेदणागुण-मसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

इस जीव को रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त, चैतन्यगुण सहित, शब्द रहित, इंद्रियादि चिह्नों से नहीं ग्रहण करने योग्य तथा जिसका आकार नहीं कहा जा सके इस प्रकार जानो।

प्रवचनसार की यह वाणी बहुत प्रबोधपूर्ण है:—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण, ण कारयिदा, अणुमत्ता णेव कत्तीणं॥ १६०॥

मैं शरीर नहीं हूँ। मैं मन नहीं हूँ। मैं वचन नहीं हूँ। मैं मन, वचन तथा काय का कारण नहीं हूँ। मैं इनका कर्ता नहीं हूँ। मैं इनका करानेवाला नहीं हूँ। तथा करने वालों का अनुमोदन कर्ता भी नहीं हूँ।

भावपाहुड़ में कहा है:—

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो वा।
दंसण - णाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं॥ १४८॥

मैं अपने भावों का कर्ता, अपने स्वरूप का भोक्ता, अमूर्तीक, शरीर प्रमाण आकारवाला, अनादिनिधन, दर्शन तथा ज्ञानोपयोग युक्त हूँ; ऐसा जिनेद्रदेव ने कहा है।

नियमसार में कहा है:—

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोस-णिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा॥ ४४॥

मेरा आत्मा ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह रहित है, राग रहित है, शल्यरहित है, समस्त दोषों से मुक्त है, काम रहित है, क्रोध रहित है, मान रहित है तथा मद रहित है।

नियमसार में कुंद-कुंद स्वामी निश्चय - दृष्टिकी मुख्यता से कहते हैं।

जीवादिबहितच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भव-गुणपज्जाएहिं वदिरत्तो ॥ ३८ ॥

जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं। इस आत्मा के लिए आत्मा उपादेय है। यह आत्मा कर्म की उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण-पर्यायों से भिन्न हैं।

चउगइभव - संभमणं जाइजरामरणरोयसोका य।
कुल-जोणि-जीव-मग्गणयाणा जीवस्स णो संति ॥ ४२ ॥

यह शुद्ध आत्मा चारों गतियों में भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक रहित है। इसके कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणा-स्थान भी नहीं है।

आचार्य शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव में कहा है :—

अनंतवीर्य - विज्ञान - दृगानंदात्मकोप्यहम्।
किन्नु प्रोन्मीलयाम्यद्य प्रतिपक्ष-विषद्रुमम् ॥

मैं अनंत - वीर्य, अनंत - विज्ञान, अनंत-दर्शन तथा अनंत आनंद स्वरुप हूँ। अब मैं कर्म रूप विष - वृक्ष का क्यों न उन्मूलन करूं ?

इस प्रकार का स्वरुप वर्णन निश्चय दृष्टि से किया जाता है। इस नय से आत्मा सिद्धसमान होने से " विराग, सनातन, शांत, निरंश, निरामय, निर्भय, निर्मल, हंस " रुप कहा जाता है। यह कथन व्यवहार से तथा संसारी जीव के अनुभव से विपरीत प्रतीत होता है। यदि हम विराग रुप, पर्याय की अपेक्षा से, हो जांय, तो सिद्धालय-स्थल हमारा निवास होता वहां हम जरा, मरणादि की विपदाओं से बच जाते। अतः एकान्त पक्ष अयोग्य है।

सापेक्षता का उदाहरण

वस्तु स्वरुप की अपेक्षा मुमुक्षु के लिए व्यवहार तथा निश्चय नयों का उपयोग आवश्यक है। उदाहरण के लिए रेलवे सिगनल के लाल तथा हरे प्रकाश को देखें। तत्वज्ञानी की दृष्टि से प्रकाश न लाल

है, न हरा है। वह तो धवल-भासुर रूप है। सफेद रूप होते हुए भी वह हरी तथा लाल कांच रूप उपाधि के भेद से अनेक वर्ण का दिखता है। इसी प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा जीव के गुणस्थान, मार्गणास्थान, क्रोधादि कषाय, जन्ममरण आदि कहे जाते हैं।

व्यवहार नये को सर्वथा मिथ्या मानने पर गोहत्या करने वाला और नहीं करने वाले समान हो जायंगे। भोगी तथा त्यागी में अन्तर नहीं रहेगा। तर्क का आश्रय ले कोई कहेगा, कि तत्वतः आत्मा में पशु आदि पर्याय नहीं है। सिद्ध समान आत्मा है। वह आत्मा शुद्ध बुद्ध है, अतः उसे हत्यारा मानना, भोगी कहना मिथ्या है।

यदि जगत् में ऐसी निश्चय दृष्टि का आश्रय लिया जाय और व्यवहार नय को तिलाञ्जलि दे दी जाय, तो यह एकान्तवाद का राक्षस आत्मा का पतन कराकर उसकी दुर्दशा किए बिना न रहेगा। अतएव द्रव्यापेक्षा से सिद्धसमान विचारते हुए पर्याय की अपेक्षा अपनी अपूर्णताओं को भी देखना आवश्यक है। आत्मा केवलज्ञानी ही है, तो फिर पाठशाला में बच्चों को क्यों पढ़ाते हो। यदि आत्मा क्षुधा, तृषा रहित ही है, तो भोजन किस लिए तैयार करते हो।

व्यवहार नय को सर्वथा मिथ्या समझने से लोक व्यवहार नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। अतः "अर्पितानर्पितसिद्धेः"—किसी दृष्टि को मुख्य किया, तो दूसरी को गौण कर दिया, इस प्रकार की प्रक्रिया से तत्व का नवनीत प्राप्त होता है। अध्यात्म का अभ्यास करने वाले साधक को तत्वार्थसूत्रकार रचित उक्त सूत्र को ध्यान में रखना हितकारी है।

आत्मोपलब्धि का उपाय

आत्मा का स्वरूप ज्ञाता, दृष्टा, आनन्द तथा शक्ति का अक्षय भण्डार कहा गया है। उस आत्मा की उपलब्धि का क्या उपाय है इस विषय में समयसार में कहा है :—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो, तह पण्णा एव धित्तव्वो॥ २९६॥

वह आत्मा किस प्रकार प्राप्त किया जाय? वह आत्मा प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार प्रज्ञा से

शरीरादि से आत्मा को विभक्त किया जाता है, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा वह प्राप्तव्य है।

प्रज्ञा के द्वारा वह आत्मा किस प्रकार ग्रहण किया जाता है इस रहस्य को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥

जो आत्मा प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, निश्चय नय से "सो अहं"—वह 'मैं' हूँ। इसके सिवाय जो शेष पदार्थ हैं, वे मुझ से भिन्न हैं, यह जानना चाहिए।

आत्मा अथा अनात्मा का पृथक्करण जिस बुद्धि के द्वारा होता है उसे प्रज्ञा (discriminative wisdom) कहा है। वह प्रज्ञा आत्मा को ज्ञाता तथा दृष्टा बताती है।

ज्ञान-स्वरूप मेरा आत्मा है, इस तत्व को भूलने से ही जीव संसार में भ्रमण करता फिरता है। समाधिशतक में कहा है—

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहंमतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

अज्ञानी जीव अपने स्वरूप से गिरकर शरीरादि में आत्म-बुद्धि धारण करता है, इससे वह बंधको नियमसे प्राप्त करता है। बुद्धिमान जीव पर-वस्तु मे आत्म-बुद्धि छोड़कर "स्वस्मिन् अहंमतिः" अपनी आत्मा में आत्म बुद्धि धारण कर अनात्म भावों से छूटता है।

आचार्य अमितगति द्वात्रिंशतिका में कहते हैं—

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा।
विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः।
बहिर्भवाः संत्यपरे समस्ताः।
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥ २६ ॥

मेरा आत्मा सदा एक है। वह अविनाशी है, निर्मल है, ज्ञानवान है। अपने कर्मो से उत्पन्न अन्य समस्त बाह्य पदार्थ शाश्वतिक नहीं हैं।

योगीन्द्रदेव परमात्मप्रकाश में कहते हैं—

एहु जु अप्पा सो परमप्पा, कम्मविसेसे जायउ जप्पा।
जामइ जाणइ अप्पे अप्पा तामहं सो जिवउ परमप्पा ॥३०५॥

यह आत्मा ही तो परमात्मा है । कर्मोदय के कारण यह आराध्य के स्थान में आराधक बनता है। जब वह आत्मा अपनी ही आत्मा में निज स्वरूप का दर्शन करने में समर्थ होता है, तब वही परमात्मा हो जाता है।

भेद-ज्ञान रूप दिव्य दृष्टि का उपाय

भेद-विज्ञान ज्योति की प्राप्ति के द्वारा निर्वाण सहज साध्य है किन्तु उस दिव्य ज्योति की प्राप्ति का क्या मार्ग है ? शिष्य पूछता है "केनोपायेन स्व-परयो र्भेदो विज्ञायेत्"—किस उपाय द्वारा आत्मा-अनात्मा का भेद विज्ञान होता है ? इष्टोपदेश में इस प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया गया है।

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम् ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ३३ ॥

गुरु के उपदेश से, अभ्यास भावनासे, स्व की संवित्ति से स्व तथा पर के भेद को जो जानता है, वह शाश्वतिक मोक्ष के सुख को जानता है ।

इससे स्पष्ट होता है कि सद्गुरु का शरण ग्रहण करना आवश्यक है। वे गुरु ज्ञानांजन आंजकर शिष्य के नेत्रों को रोग रहित कर देते हैं।

गुरु कौन है ?

आज के युग में जो देखो गुरु बना फिरता है । शिष्य नहीं दिखते। सर्वत्र गुरु ही दिखते हैं। वास्तव में बीमार तो सब हैं, किन्तु दूसरों के लिए वे प्राणाचार्य वैद्यका रूप धारण करते हैं। गुरु की क्या पहिचान है ? आचार्य समंतभद्रने अपने अपूर्व ग्रन्थ रत्नकरंड श्रावकाचार में गुरु का यह लक्षण लिखा है :—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥ १० ॥

जो इंद्रियों के प्रिय विषय-भोगों की ममता से दूर हैं, हिंसा प्रचुर आरंभपूर्ण कार्यों का त्याग कर चुका है, वस्त्रादि बाह्य तथा मोहादि

अंतरंग परिग्रह से विरहित है, ज्ञान, ध्यान तथा तपस्यामें संलग्न रहता है, वह तपस्वी प्रशंसनीय है।

ये तपस्वी वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु ही मोक्ष मार्ग में नेता (Guide) माने गए हैं। ये मुनिजन तपोधन कहे जाते हैं। विवेक के प्रकाश में की गई तपस्या ही इनकी संपत्ति है।

प्रश्न—वीतराग साधु को ही जिनागममें क्यों गुरु माना है? रागद्वेष, भोग, परिग्रह में संलग्न रहने वाला गृहस्थ क्या सद्‌गुरु देव नहीं हो सकता?

उत्तर—परिग्रहादिधारी मोक्ष-पथ में गुरुदेव नहीं माना गया है। उस गुरु को 'उपलनाव,' कहा गया है। पत्थर की नौका में बैठने वाला नौका सहित सागर के तल में डूबता है, ऐसी ही दशा उस गुरु तथा उनके भक्तों की होती है। परिग्रहधारी को सद्‌गुरुदेव कहने की प्रणाली मोक्षमार्ग की दृष्टि से हितकारी नहीं है। मोक्षमार्ग में जैसी जैसी जीव की रुचि बढ़ती जाती है, वैसे वैसे जीव की विषयों के प्रति आसक्ति तथा ममता घटती जाती है। भोगों का रुचि पूर्वक सेवन करने वाला, परिग्रह के जाल में फंसा व्यक्ति अनुभवी सत्पुरुष की भाषा में वीतरागता का अमृतरस नहीं पिला सकता है। वह आत्म तत्व के वक्ता का अभिनय कर सकता है। लेखक का भी रूप दिखा सकता है, किन्तु उसकी वाणी में वह ओज तथा सामर्थ्य नहीं रहेगी जैसी आत्मतत्व को साक्षात्कार करने वाले विरागी साधु में पाई जाती है। जिसे स्वयं मार्ग का पता नहीं है, वह व्यक्ति भीषण वन में भटकने वालों का पंथ प्रदर्शक नहीं बन सकता है। इसलिए बड़े विवेक और विचार पूर्वक सद्‌गुरु को खोजकर उसका शरण ग्रहण करना चाहिए। लोकोक्ति है "पानी पीजे छान गुरु कीजे जान"। सच्चे गुरु का लाभ न होने पर जिनेन्द्र-देव की स्याद्वादवाणी के प्रकाश में पुरुषार्थ करे। प्रमादी न बने।

आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष की साध्यता

आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है यह कथन भी एक दृष्टिका द्योतक है। एकान्त-पक्ष पकड़ने से वह दृष्टि सदोष हो जाती है। सर्वज्ञता की उपलब्धि होने पर केवली भगवान के शुद्ध सम्यक्त्व द्वारा आत्माका अनुभव होता है, फिर भी वह जीव

आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त न्यून एक कोटि पूर्वकाल पर्यन्त सिद्धलोक में नहीं जाता है। इसका क्या कारण है? आगम कहता है कि ज्ञान तथा दर्शन की पूर्णता हो गई, किन्तु अभी चारित्र की परिपूर्णता में कमी है। बंध के कारण मिथ्यात्व के सिवाय अविरति, प्रमाद तथा कषायों का क्षय हो गया है। योग रूप बंध का कारण शेष है तथा पूर्व बद्ध कर्मों की सत्ता भी है। कर्म की पुलिस रूप आयु कर्म उस सर्वज्ञ, आत्मज्ञानी महाप्रभु परज्योति परमात्मा को शरीर रूप कारागार में अभी भी रोके है। जब वह आत्मा व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति रूप, अंतरंग तप के अंतर्गत परिगणना किए गए, चौथे शुक्लध्यान को अंगीकार करता है, तब चारों अघातिया कर्मों के नष्ट होने में क्षणभर से अधिक समय नहीं लगता है। अतएव असिद्धत्व रूप औदयिक भाव का क्षय करके सिद्ध पर्याय की प्राप्ति जिस चारित्र के द्वारा होती है, वह चारित्र किस विवेकी के द्वारा सर्वदा पूजनीय न होगा? जो इसे महत्ता नहीं प्रदान करते, वे अतत्वदृष्टि हैं। इस प्रसंग में सोमदेव सूरि का यह कथन अत्यन्त मार्मिक है—

> सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता।
> वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ॥

सम्यक्त्व के होने पर यह जीव नरकादि कुगतिओं से बच कर देव तथा मनुष्य रूप सुगति को प्राप्त करता है। ज्ञान के द्वारा यह जीव कीर्ति को प्राप्त करता है। चरित्र के द्वारा जीव को आदर प्राप्त होता है। इनसे मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष के लिए आचार्य कहते हैं—"त्रयात् शिवम् लभते"—सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से शिवपद प्राप्त होता है। मोक्ष रूप साध्यका समर्थ साधन रत्नत्रय धर्म है। भेद दृष्टि से रत्नत्रय के अंगरूप तीनों गुणों की पृथक्-पृथक् भी पूजा की जाती है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से तत्व-निरूपण करते समय अभेद रत्नत्रय को ही मोक्षमार्गता प्रतिपादन करना होगा।

धर्म का सार—

एक शब्द में इस रत्नत्रय का निरुपण करें, तो कहना होगा, कि 'अहिंसा' इस शब्द में पूर्ण सार गर्भित हो जाता है। श्रुतकेवली गौतम स्वामी ने धर्म का लक्षण अहिंसा कहा है। अध्यात्म-विद्या के अनुरागियों को श्रुतकेवली के इन शब्दों की गहराई को देखना चाहिए, जिन श्रुतकेवली की वाणी की एक बिन्दु समयसार में आई

जैन श्रुतकेवली ने द्वादशांगात्मक श्रुत-सिंधु का निरुपण किया है। जिन श्रुतकेवली की वंदना कुदकुंदादि मुनीन्द्र करते चले आए हैं, वे श्रुतकेवली कहते हैं—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा - संजमो - तवो ।
देवावि तस्स पणमंति जस्स धमो सया मणो ॥

यह धर्म ही श्रेष्ठ मंगल है। वह धर्म अहिंसा रूप है, संयम रूप है, तप रूप है। जिसका मन सदा धर्म में निमग्न रहता है, उसको देवता लोग भी प्रणाम करते हैं। जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक यह जीव मिथ्याभाव के द्वारा अपने आत्म-स्वरुप का घात करता है। मिथ्यात्वी को कवि बनारसीदास जी ने 'ब्रह्मघाती महापातकी' कहा है। कवि के ये शब्द अंतः स्पर्शी हैं :—

धरम न जानत, बखानत भरम रूप,
ठौर ठौर ठानत लराई पक्षपात की।
भूल्यो अभिमान में न पांव धरे धरनी में,
हिरदे में करनी विचारे उतपात की।
फिरै डांवा डोल सो करमके कलोलनि में,
ह्वै रही अवस्था ववरुला जैसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी, कुटिल कुपाती भारी,
ऐसो ब्रह्मघाती मिथ्याती महापातकी ॥

अपने आत्मरूप का घात करने वाला महापापी यह मिथ्यात्वी जीव धर्म का स्वरूप न जानकर पक्षपात रूप पिशाच के अधीन होकर धर्म का विकृत रूप कहता फिरता है। कलहमूर्ति बनकर वह अभिमानी होकर उत्पात करता है। पवन के बवरुला में जैसी पीपल के पत्ते की दशा होती है, वैसी अवस्था कर्मोदयवश उसकी हुआ करती है। उसका हृदय मिथ्यात्वांधकार के कारण पूर्णतया कृष्णवर्ण बन रहा है। जब सम्यक्त्व भाव उत्पन्न होता है, तब यह जीव आत्महत्या के दोष से कुछ कुछ छूटता है। पूर्ण अहिंसा की उपलब्धि के लिए समस्त विभाव का अभाव करके शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति आवश्यक है।

'पर-ब्रह्म' क्या है ?

वेदान्ती लोग परम ब्रह्म की उपासना करते हैं। उनका मन्तव्य यही है। उस पर-ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? इस संबंध में

महाज्ञानी समंतभद्र स्वामी का यह कथन है। भगवान नमिनाथ तीर्थंकर की स्तुति करते हुए वे कहते हैं —

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमम्।
न सा तत्रारंभोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ॥
ततस्तत्सिध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषो-पधिरतः॥११९॥ स्वयंभूस्तोत्र

जगत् में जीवों की अहिंसा परम ब्रह्म प्रसिद्ध है। जिस आश्रम विधि में अल्प प्रमाण में भी जीवघात रूप आरंभ नहीं पाया जाता है, वहां वह अहिंसा रहती हैं। अतएव उस अहिसा रूप परणति की प्राप्ति के लिए, हे भगवन्! आपने परम करुणा युक्त हो बाह्य तथा अंतरंग परिग्रह का परित्याग किया तथा परिग्रह धारण करने वालों के विकारी वेष तथा परिग्रह को स्वीकार नहीं किया।

अपरिग्रह-वृत्ति

इस विवेचन से एक बात और प्रकाश में आती है कि अपरिग्रहवृत्ति तथा अकिंचनता के माध्यम द्वारा ही भगवती अहिंसा की वास्तविक उपलब्धि होती है। दिगम्बर श्रमण परंपरा में वस्त्रादि का त्याग इसीलिए आवश्यक कहा है कि उससे जीवादि का पूर्णतया परिरक्षण होता है। किन्हीं की धारणा है, कि वस्त्रादि परिग्रह नहीं है। उनसे हमारे महाव्रती साधुपने में बाधा नहीं है, कारण हमारी उनमें ममता नहीं है।

इस कथन की मीमांसा की जाय, तो कहना होगा, कि वस्त्रादि को शरीर पर सदा सम्हालने वाला, उनको स्वच्छ करने वाला, उनको साथ-साथ लेकर गमनागमन करने वाला किस प्रकार कह सकता है कि उनके प्रति ममत्व नहीं है? ऐसा कथन सत्य-महाव्रत की भी विराधना करता है।

कदाचित् यह कहा जाय, कि शरीर-रक्षार्थ तथा लज्जा-निवारणार्थ वस्त्रादि अपरिहार्य हैं। वे आवश्यक हैं।

इसके उत्तर में यही कहना होगा, कि वस्त्रादि के बिना जितेन्द्रिय तथा मनस्वी साधु अपनी संयम साधना करते हुए प्रत्यक्ष-

गोचर होते हैं। जो असमर्थतावश सुन्दर, धौतधवल वस्त्र धारण करते हैं, वे इतना तो अवश्य कर सकते हैं, कि ग्रीष्म ऋतु में लंगोटी मात्र से काम निकाल सकते हैं। वे स्वयं सोच सकते हैं, कि ऐसा करने से वस्त्र धोने के लिए जल की कम जरूरत पड़ेगी तथा साबुन आदि क्षार पदार्थों का कम उपयोग होगा। ऐसा करने से त्रस जीवों का भी अकारण विनाश बच जायगा। यदि अहिंसा की सचमुच में प्रतिपालना करना है, तो शरीर-सौन्दर्य, प्रभाव वर्धन आदिकी विकारी भावनाओं का परित्याग आवश्यक है। स्वामी समंतभद्र ने उपरोक्त पद्य द्वारा यह तत्त्व स्पष्ट कर दिया, कि अहिंसा की साधना वाह्य तथा अंतरंग परिग्रह के सद्भाव में असंभव है। पात्र के सरिस्तोत्र का यह पद्य बहुत गम्भीर तथा मार्मिक है :—

परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते।
प्रकोप-परिहिंसने च परुषानृतव्याहृती॥
ममत्वमथ चौरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता।
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता॥४२॥

परिग्रहवान् सत्पुरुषों को चौरादि का भय अवश्य उत्पन्न होता है। उसके निमित्त से क्रोध, हिंसा, कठोर भाषण, मिथ्या कथन होता है। ममत्वभाव पैदा होता है। चोर के कारण अपने मन में आकुलता की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कलुषित अंतःकरण वालों के द्वारा श्रेष्ठ शुक्लध्यान की आराधना किस प्रकार सम्भवनीय है?

परिग्रह का वकील बनकर कोई उसके दोषों की समीक्षा नहीं कर सकता। न्याय बुद्धि को अंतः करण में स्थान देने पर यह बात प्रत्येक की समझ में आयगी, कि परिग्रह की न्यूनता में आत्मा विशेष निर्मल होती है। अतः उसका पूर्ण परित्याग क्यो न अपूर्व निर्मलता का हेतु होगा? परिग्रह का परित्याग हार्दिक निर्मोह वृत्ति से अनुप्राणित होना चाहिए, अन्यथा ऐसे परिग्रह विहीन मानव तथा वस्त्र-रहित अवस्थावाले पशुओ में तत्वतः क्या अंतर है? भावपाहुड़ में कुंद-कुंद स्वामी ने लिखा है :—

भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स॥ २॥

भावों की विशुद्धता के लिए बाह्य धन, धान्य, वस्त्रादि परिग्रह का त्याग किया जाता है। अंतरंग परिग्रहधारी के बाह्य त्याग विफल है।

श्रमणों को चेतावनी

इन्हीं साधुराज की यह चेतावनी उन श्रमणों को विशेष ध्यान देने योग्य है, जो परित्याग कर महाव्रती बनते हैं, तथा विविध प्रकार से पुनः उस परिग्रह की ओर आकर्षित होते हैं। सूत्रपाहुड़ में कहा है:-

जहजायरुवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जह लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥ १८ ॥

यथाजात नग्न रुप को धारण करने वाला मुनि अपने हाथों में तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखता है। यदि वह थोड़ा बहुत परिग्रह लेता है, तो वह निगोद पर्याय को प्राप्त करता है।

इससे आगम में अपनी श्रद्धा तथा सामर्थ्य के अनुसार अहिंसा की आराधना का उपदेश है। कपट रुप आचरणवाला स्वयं को भी ठगता हुआ पशु पर्याय को "माया तैर्यग्योनस्य" सूत्र के अनुसार पाता है।

व्रतों का महत्व

कोई कोई अत्यधिक चतुरता दिखाते हुए सदाचार पालन के प्रति विमुख रहते हैं और कहते हैं कि वे पहले सम्यक्त्व ज्योति को प्राप्त करेंगे, इसके पश्चात् त्याग की बात सोचेंगे। वे यह नहीं विचारते कि अपनी साधन सामग्री के होने पर चारों गतियों में भी सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है, किन्तु संयम पालन की क्षमता इस मनुष्य जीवन की विशेषता है। अतः बुद्धिमान पुरुष मनुष्य जन्म को सफल करने के लिए तो यथाशक्ति पाप प्रवृत्तियों का त्यागकर व्रतादि स्वीकार करता है और अपने संयम को पाषाण के स्थान में 'महामणित्व'-प्रदानार्थ आत्म चिंतन, साधु समागम, शास्त्रपरिशीलनादि कार्यों को भी करता जाता है।

यदि सम्यक्त्व मिल गया तथा श्रेष्ठ संयम पालन कर लिया, तो आज के युग में भी लौकान्तिक देव बनकर दूसरे भव से मोक्ष प्राप्त होता

है। यदि काल-लब्धि आदि सामग्री के अभाव वश सम्यक्त्व नहीं हो पाया, तो भी संक्लेश भावों के त्याग द्वारा वह पशु पर्याय तथा नरक-पर्याय में उत्पन्न नहीं होगा। मनुष्य पर्याय में वह जीव थोड़ासा त्याग नहीं करता। रात्रिभोजन, मद्य-मांस-सेवन, सप्तव्यसन सेवन, अभक्ष्य भक्षणादि का त्याग नहीं करता; क्योंकि ऐसा करने में उसे कष्ट होता है। वह भाई यह भूल जाता है कि इन विषयों की आराधना से यदि जीव पशु पर्याय में गया, तो क्या दशा होगी? उस पर्याय के कुछ दुःखों का वर्णन करते हुए पं० दौलतरामजी कहते हैं :—

छेदन, भेदन, भूख पियास, भार-वहन हिम आतप त्रास।
वध-बंधन आदिक दुःख घनें कोटि जीभतें जात न भनें॥

आज का स्वार्थ के शिखर पर चढ़ा हुआ क्रूरहृदय मानव जिन-पशुओं की खाल खेंचकर मुलायम चमड़ों से अपने को सुखी बनाता है, उनके मांस, रुधिर आदि के सेवन द्वारा अपने को स्वस्थ, पुष्ट तथा बलवान् बनाना चाहता है, वह नहीं सोचता, कि मैं मरने के बाद इस क्रूरता के कारण ऐसा ही पशु बना, तो मेरी क्या अवस्था होगी? अपने ही हितार्थ हमारा कर्तव्य है कि हम जितेन्द्रियता की ओर प्रवृत्ति करें।

सुन्दर बातें, किन्तु हीनाचरण

आत्मज्ञान की बड़ी बातें करने वाला जब पापाचरण करते हुए देखा जाता है, तो सभी लोग उसे पाखंडी तथा प्रपंची कहकर उसका तिरस्कार करते हैं। जब तक वाणी, विचार तथा आचरण में एक-विधता नहीं आती, तब तक जीवन भी सुमधुर नहीं बनता। ऐसे लोगों की वृद्धि से समाज तथा राष्ट्र का भी अकल्याण होता है। चरित्रवान एवं सदाचारी लोगों से समाज का गौरव होता है। भोगोन्मुखता पतन को सूचित करती है। त्यागका प्रेम उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। इस भारत की विश्व में जो प्रतिष्ठा रही है, वह त्याग के कारण हुई है। चक्रवर्ती भरत का नाम भोगी भरत के रूप में नहीं है, किन्तु छह खण्ड विभूतिका त्यागकर शीघ्र ही परमात्म पदवी प्राप्त करने के कारण है। कवि सचेत करता हुआ कहता है :—

ये भोग भुजंग सम जानके मत कीज्यो जी यारी।

आश्चर्य है कि आत्मार्थी मुमुक्षु बननेकी कामनावाले उपकारी त्याग को मित्र रूप में नहीं देखते। कवि की यह उक्ति कितनी स्पष्ट तथा भाव पूर्ण है :—

दो मुख सुई न सीवै कंथा, दो मुँह पंथी चले न पंथा।
ये दो काज न होंय सयाने, विषय भोग अरु मोखपयाने ॥

जिस सम्यक्त्व की मोक्ष के लिए अनिवार्यता कही गई है, उसकी उपलब्धि का विशेष चिह्न 'वैराग्य-भाव' है। जिसके मन में वैराग्य होता है, वह विषयों का तथा इन्द्रियों का गुलाम नहीं बनता है। विषयों की आराधना का क्या फल होता है यह योगीन्द्रदेव परमात्मप्रकाश में इस प्रकार बताते है :—

भोगों की आसक्ति

रुवि पयंगा सद्दि मय गय फासइ णासंति।
अलिउल गंधइ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥२४२॥
रूपे पतंगाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यंति।
अलिकुलानि गंधेन मत्स्याः रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति ॥२४२॥

रूप में आसक्त हुए पतंग दीपक में जलकर मर जाते हैं। शब्द के विषय में आसक्त हरिण शिकारी के द्वारा बाण से मारे जाते हैं। हाथी स्पर्श जनित लोलुपता के कारण गड्ढे में गिरकर बांधा जाता है। सुगंध की लालुपता से भ्रमर मरण को प्राप्त होते हैं। रसना इंद्रिय की लोलुपता के कारण मछली धीवर के जाल में फंसकर मारी जाती है। एक-एक इंद्रिय संबंधी विषय-सेवन के द्वारा जब पूर्वोक्त प्रकार से विपत्ति प्राप्त होती है, तब पांचों इंद्रियों के लोलुपी लोगों की आगामी दुर्दशा की कल्पना तक कष्टप्रद प्रतीत होती है। अतएव सच्चा तत्वज्ञ स्वयं विषयों के जाल में नहीं फसता है तथा अन्य अल्पज्ञों को भी अपनी वाणी और जीवनी द्वारा कल्याण का पथ प्रदर्शित करता है। जिस भाग्यशाली को आत्मा का आनंद प्राप्त होता है, वह सुरेन्द्र पद के अवर्णनीय सुखों के प्रति भी ममत्व नहीं रखता, तब मनुष्य पर्याय के तुच्छ सुखों के त्याग की बात नगण्य तुल्य है।

भारतीय संस्कृति पवित्र त्याग की आधार शिला पर अवस्थित हैं। अतएव त्याग का तिरस्कार दबी जबान से करते हुए भोग की ओर जाते हुए लोगों को प्रेरणा देना व्यक्ति तथा समाज के लिए अच्छी बात नहीं है। असंयम में हिंसा है। संयम भगवती अहिंसा का प्रियबंधु है। आशा है अध्यात्म विद्या के प्रेमी सत्पुरुष सदाचार की महत्ता को हृदयंगम करते हुए अपने जीवन को मंगल प्रवृत्तियों का केन्द्र बनावेंगे। हमें सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि हमने दुर्लभ नर जन्म पाया है। हम ऐसा कोई काम न करेंगे, जिसके कारण हमारे मानव जीवन का गौरव नष्ट होता है। असंयमी अवस्था में यदि मृत्यु हो गई तो हमारी ही आत्मा महान दुःख पायेगी।

भ्रांतिपूर्ण तर्क

कोई २ सोचते हैं, आचार तो व्यवहार धर्म है। हम तो निश्चय नय की गाड़ी में बैठकर इसी भव से मोक्ष जावेंगे।

इन भोले भाइयों को यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा जन्म विदेह क्षेत्र में नहीं हुआ है, जहां सदा चतुर्थकाल रहता है और मोक्षमार्ग प्रवर्तमान है। हम उस भरत क्षेत्र में हैं, जहां दुषमा काल है। वज्रवृषभ संहनन का धारण इस काल में नहीं होता। इस क्षेत्र में हमारे भाव शुक्लध्यान को स्पर्श भी नहीं कर सकते। शुक्ल ध्यान के बिना पूर्ण शुद्ध उपयोग असंभव है। आज धर्मध्यान ही हो सकता है। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान रूप अशुभोपयोग हमें सदा घेरे रहते हैं। सारा जगत् हिंसानंद, परिग्रहानद आदि दुर्भावों में डूबा हुआ है। हमारा कर्तव्य है कि धर्मध्यान रूपी गाड़ी में बैठें। उससे इसी भव से मोक्ष तो नहीं मिलेगा, किन्तु आगामी ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप सामग्री का लाभ होगा, कि शुक्लध्यान का अवलंबन लेकर हम भी शीघ्र निर्वाण को प्राप्त कर सकेंगे।

निष्कर्ष

प्रथम अवस्था में जीव के लिए व्यवहार का आश्रय लेना अनिवार्य है। विद्वान बनने के ध्येय वाले बालक को शिशुवर्ग की पुस्तकों का अभ्यास करना पड़ता है। धीरे २ नीचे की कक्षा का पाठ

पढ़ने के उपरान्त उन पुस्तकों को छोड़कर वह बालक आगे बढ़ता जाता है। यदि वह यह कहे, कि मैं तो विद्वान् होना चाहता हूँ, इससे मैं शिशुवर्ग में भर्ती नहीं होना चाहता हूँ, तो शिक्षक लोग उसके अविवेक पर हंसे बिना न रहेंगे। वे अध्यापक प्रेम से समझावेंगे; वत्स! विद्वान् बनने का पूर्व क्रम यही है। वर्णमाला आदि का अभ्यास हुए बिना विद्वान् बनना ऐसा ही है, जैसे रुपया, पैसा आदि के बिना लक्षाधीश बनना। इसी प्रकार अनादि से मोह निद्रा द्वारा बेहोश आत्मा को जगाकर सद्गुरु उसके समझ में आने योग्य वार्ते बताते हैं। अमृतचंद्र स्वामी ने लिखा है कि प्राथमिक अवस्था में जीव के लिए व्यवहार नय का अवलंबन आवश्यक है। महापंडित आचार्यकल्प आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत में जो महत्व की बात कही है, उस पर हमारा ध्यान जाना जरूरी है। वे लिखते हैं—

व्यवहार-पराचीनः निश्चयं यः चिकीर्षति।
बीजादिना बिना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति॥

जो व्यक्ति व्यवहार धर्म से विमुख हो, निश्चय की आकांक्षा करता है, वह मूढ आत्मा बीज के बिना धान्य को प्राप्त करना चाहता है।

भावों पर हमारा भावी जीवन आश्रित है। अतएव हमारा कर्तव्य है कि मलिन परिणामों को छोड़कर शुभ भाव की ओर उद्यत हों। शुद्ध भाव की चर्चा मात्र आज की जा सकती है। उसकी प्राप्ति आज यहां असंभव होने से हमें उस असंभव के पीछे नही दौड़ना चाहिए। शुभ भावों के हेतु उद्योगशील रहना चाहिए।

कर्तव्य

हमारा कर्तव्य है कि सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा सच्चे शास्त्र की श्रद्धा करें। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे प्रशम भाव तथा संवेग पूर्ण परिणाम हों। अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण हममें प्रगट हों। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन स्थितीकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना रूप सम्यक्त्व के अष्ट अंगों द्वारा हमारी आत्मा उज्वल बने। जिनेन्द्र भगवान की प्रगाढ भक्ति

के द्वारा मिथ्यात्वांधकार दूर होता है, अतः बड़े बड़े आचार्यों ने उस जिनेन्द्र भक्ति की महिमा गाई है; अतएव आत्महितार्थ हमें जिनेन्द्र भगवान का शरण ग्रहण करना चाहिए। अनादि काल से हमने मोह निद्रा की अधीनतावश अपना सर्वस्व नष्ट किया है। अब योग्य समय आया है। हमें कवि की समुज्ज्वल शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए—

काल अनादि भये तोहि सोवत, अब तो जागहु चैतन जीव।
अमृत-रस जिनवरकी बानी, एक चित्त निहचै कर पीव।
पूरव करम लगे संग तेरे, तिनकी मूल उखारहु नींव।
ये जड़ प्रगट,गुप्त तुम चेतन जैसे भिन्न दूध अरु घीव ॥८४॥ ब्रह्मविलास॥

मुद्रक—शुभचिन्तक प्रेस, दीक्षितपुरा, जबलपुर।